सद्गुरवे नमः

कबीर अमृत वाणी



अभिलाष दास

ॐ

पूज्य नागा बाबा को समर्पित



सद्गुरवे नमः

मानवता के महान आदर्श, विश्ववन्द्य, पूज्य गुरुवर
सन्त श्री कबीर साहेब की देन

साखी-ग्रन्थ

से संकलित

कबीर अमृत वाणी



संकलनकर्ता एवं टीकाकार
अभिलाष दास

प्रकाशक

कबीर पारख संस्थान

संत कबीर मार्ग, प्रीतम नगर, इलाहाबाद-211011

Visit us : www.kabirparakh.com

E-mail : kabirparakh@yahoo.com

पहली बार वि०सं० 2024 सन् 1967

बाइसवीं बार वि०सं० 2073 सन् 2016

सत्कबीराब्द 618

ISBN : 81-8422-014-6

मूल्य : ₹ 50.00

मुद्रक

त्रिवेणी ऑफसेट प्रिंटर्स

शास्त्रीनगर, मीरापुर, इलाहाबाद-2

Kabir Amrit Vani : Commentry by ABHILASH DAS

भूमिका

मानव एकता के महान आदर्श, विश्वविख्यात, विश्ववन्द्य, संत-शिरोमणि, विरक्तात्मा, पूज्यपाद सद्गुरु श्री कबीर साहेब का मुख्य प्रामाणिक ग्रंथ 'बीजक' है। आपके दर्शन और आचार का वही मूल स्तम्भ है।

'साखी-ग्रंथ' भी सद्गुरु कबीर साहेब के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें हजारों साखियां हैं। उसकी सभी साखियां बीजक के सर्वथा अनुकूल नहीं हैं। उसमें प्रक्षिप्त अंश अधिक प्रतीत होते हैं, तथापि उसमें उपदेश, चेतावनी एवं शिक्षा के अंश बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।

ऐसे महत्त्वपूर्ण वचनों द्वारा बीजक के सिद्धान्त पर निष्ठा रखने वाले पाठक लाभ उठाने से उपर्युक्त कारणों से वंचित न रह जायं—ऐसा विचारकर उक्त ग्रंथ से मैंने उतनी ही साखियों का संकलन किया है, जिनका बीजक-सिद्धान्त से तालमेल बैठता है एवं जो बीजक के अनुकूल हैं। कुछ साखियां और प्रसंग अनुकूल होने पर भी विस्तार भय से छोड़ दिये गये हैं। संकलन होने से छोड़ने-ग्रहण करने में स्वतन्त्रता थी ही। आशा की जा सकती है कि इस प्रयत्न से पाठकों को बड़ा लाभ होगा। आकार में छोटा होने से लोग अधिक लाभ उठा सकेंगे।

यदि ज्यों-का-त्यों पूरे ग्रंथ की टीका की जाती, तो 'साखी-ग्रन्थ' नाम ही रखा जाता; परन्तु उसका सार-संग्रह होने से, इसका नाम 'कबीर अमृत वाणी' रखा गया है। इन साखियों की टीका करने में पण्डित श्री महाराज राघव साहेब के 'साखी-ग्रंथ' की टीका का यत्र-तत्र आधार लिया गया है; अतएव मैं आपका आभार स्वीकार करता हूं।

टीका करने में प्रमाद-वश कोई त्रुटि मुझसे हुई हो, उसके लिए मैं विनम्र

क्षमाप्रार्थी हूं। सारग्राही सन्त-सज्जन कृपया, मधुकरवत केवल गुण-ग्रहण करने पर ध्यान देने का कष्ट करेंगे।

वाराणसी
वैसाख कृष्ण २०२४

विनम्र
अभिलाष दास

आठवींबार

इस पुस्तक से जनता काफी लाभ ले रही है यह जानकर प्रसन्नता है। इसकी उपयोगिता का यह प्रबल प्रमाण है कि अट्ठाइस वर्षों में इसके आठ संस्करण निकल गये। सद्गुरु कबीर की वाणी ही ऐसी है जो पाठकों के दिल में सीधे उतरती है। उनकी वाणी का जितना ही प्रचार होगा, जनता को सच्चा ज्ञान मिलेगा।

श्री कबीर मन्दिर
कबीरनगर, इलाहाबाद
फाल्गुन, वि० २०५२

—टीकाकार

विषय-सूची

वन्दना

वन्दौं सत्य कबीर को, निर्भय ज्ञान प्रकाश।
पक्षपात से जो रहित, तजि जग बन्ध निराश॥ १॥

वन्दौं निर्मल सन्त जन, दया विवेक विचार।
शुभ गुण संयुक्त हंस पद, करत जीव उपकार॥ २॥

बोध प्रदाता सद्‌गुरु, वन्दौं बारम्बार।
जिनके कृपा कटाक्ष से, दरश्यो संार असार॥ ३॥

आश्विन कृष्णा सप्तमी, युग सहस्त्र त्रय बीस।
विक्रमाब्द गुरुवार कहँ, सम्पूरण आशीश॥ ४॥

सद्गुरवे नमः

कबीर अमृत वाणी

१

गुरु को अंग

(इस प्रसंग में गुरु का महत्त्व बताया गया है)

साखी

गुरु को कीजै दण्डवत, कोटि कोटि परनाम।
कीट न जाने भृंग को, गुरु करले आप समान॥ १॥

गुरुजी को दण्डवत, बन्दगी एवं करोड़ों बार प्रणाम करो। कीड़ा भृङ्गी के महत्त्व को नहीं जानता, परन्तु भृङ्गी कीड़े को अपने सदृश बना लेती है, वैसे शिष्य को गुरु अपने सदृश बना लेते हैं॥ १॥

लोक-प्रचलित बात है कि भृङ्गी (एक प्रकार की मक्खी) छोटे कीड़ों को पकड़कर और अपना शब्द सुनाकर उसे अपना-सा बना लेती है। यद्यपि यह पारस-पत्थर के समान केवल कल्पित दृष्टान्त ही प्रतीत होता है; तथापि सिद्धान्त में गुरु अपने निर्णय-शब्द सुनाकर शिष्य को अपने सदृश बना ही लेते हैं।

गुरु सों ज्ञान जु लीजिये, सीस दीजिये दान।
बहुतक भोंदूं बहि गये, राखि जीव अभिमान॥ २॥

अपने सिर की भेंट चढ़ाकर गुरु से ज्ञान प्राप्त करो। परन्तु यह सीख न मानकर और तन, धनादि का अभिमान धारणकर कितने ही मूर्ख संसार में बह गये, गुरुपद-पोत में न लगे॥ २॥

गुरु की आज्ञा आवै, गुरु की आज्ञा जाय।
कहैं कबीर सो संत हैं, आवागमन नशाय॥ ३॥

व्यवहार में भी साधु को गुरु के आज्ञानुसार ही आना-जाना चाहिए। सद्गुरु कहते हैं कि सन्त वही है, जो जन्म-मरण से पार होने के लिए साधना करता है॥ ३॥

गुरु पारस को अन्तरो, जानत हैं सब सन्त।
वह लोहा कंचन करे, ये करि लेय महन्त॥ ४॥

गुरु में और पारस-पत्थर में अन्तर है, यह सब सन्त जानते हैं। (लोक कथन-अनुसार) पारस तो लोहा को सोना ही बनाता है; परन्तु गुरु शिष्य को अपने समान महान बना लेते हैं॥ ४॥

कुमति कीच चेला भरा, गुरू ज्ञान जल होय।
जनम जनम का मोरचा, पल में डारे धोय॥ ५॥

कुबुद्धि रूपी कीचड़ से शिष्य भरा है, उसे धोने के लिए गुरु का ज्ञान जल है। जन्म-जन्मान्तरों की बुराई (अध्यास) गुरुदेव क्षण ही में नष्ट कर देते हैं॥ ५॥

गुरु कुम्हार शिप कुंभ है, गढ़ि गढ़ि काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट॥ ६॥

गुरु कुम्हार हैं, और शिष्य घड़ा है; गुरु भीतर से हाथ का सहारा देकर और बाहर से चोट मार-मार कर तथा गढ़-गढ़ कर शिष्य की बुराई को निकालते हैं॥ ६॥

गुरु समान दाता नहीं, याचक सीष समान।
तीन लोक की सम्पदा, सो गुरु दीन्हों दान॥ ७॥

गुरु के समान कोई दाता नहीं, और शिष्य के सदृश याचक नहीं। गुरु ने त्रयलोक की सम्पत्ति से भी बढ़कर ज्ञान-दान दे दिया॥ ७॥

जो गुरु बसै बनारसी, सीष समुन्दर तीर।
एक पलक बिसरे नहीं, जो गुण होय शरीर॥ ८॥

यदि गुरु वाराणसी में निवास करें और शिष्य समुद्र के निकट हो, परन्तु शिष्य के शरीर में गुरु का गुण होगा, तो वह गुरु को एक क्षण भी नहीं भूलेगा॥ ८॥

लच्छ कोप जो गुरु बसै, दीजै सुरति पठाय।
शब्द तुरी असवार है, छिन आवै छिन जाय। ९॥

यदि गुरु लाख कोस पर निवास करते हों, तो भी अपना मन उनके चरणों में लगाते रहो। गुरु के सदुपदेश रूपी घोड़े पर सवार होकर अपने मन से गुरुदेव के पास क्षण-क्षण आते-जाते रहना चाहिए ॥ ९॥

भाव—गुरु के उपदेश में अपना मन रखोगे, तो गुरु का स्मरण स्वाभाविक होता रहेगा।

गुरु को सिर पर राखिये, चलिये आज्ञा माहिं।
कहैं कबीर ता दास को, तीन लोक भय नाहिं॥ १०॥

गुरु को अपना सिरमुकुट मानकर, उनकी आज्ञा में चलो। कबीर साहेब कहते हैं, ऐसे शिष्य-सेवक को तीनों लोक में भय नहीं है॥ १०॥

गुरु बिन ज्ञान न उपजै, गुरु बिन मिलै न मोष।
गुरु बिन लखै न सत्य को, गुरु बिन मिटै न दोष॥ ११॥

गुरु के बिना ज्ञान नहीं उत्पन्न होता, गुरु के बिना मोक्ष नहीं मिलता। गुरु के बिना कोई सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता, और गुरु के बिना तन, मन, वचन के दोष नहीं मिटते ॥ ११॥

गुरु सों प्रीति निबाहिये, जेहि तत निबहै संत।
प्रेम बिना ढिग दूर है, प्रेम निकट गुरु कंत॥ १२॥

जैसे बने वैसे गुरु-सन्तों के प्रेम का निर्वाह करो। निकट होते हुए भी प्रेम बिना वे दूर हैं, और यदि प्रेम है, तो गुरु-स्वामी पास ही हैं ॥ १२॥

गुरु मूरति गति चन्द्रमा, सेवक नैन चकोर।
आठ पहर निरखत रहे, गुरु मूरति की ओर॥ १३॥

गुरु की मूर्ति चन्द्रमा के समान है, और सेवक के नेत्र चकोर के तुल्य हैं। अतः आठों पहर गुरु-मूर्ति की ओर ही देखते रहो॥ १३॥

भाव—सदैव गुरु-ज्ञान में मन रखो।

गुरु शरणागति छाड़ि के, करै भरोसा और।
सुख सम्पति की कह चली, नहीं नरक में ठौर॥ १४॥

गुरु की शरणागति को छोड़कर, जो अन्य दैव-गोसैंया का भरोसा करता है, उसकी सुख-सम्पति की कौन बात चलावे, उसे नरक में भी स्थान नहीं मिलेगा॥ १४॥

गुरु मूरति आगे खड़ी, दुतिया भेद कछु नाहिं।
उन्हीं कूँ परनाम करि, सकल तिमिर मिटि जाहिं॥ १५॥

चैतन्य गुरु की मूर्ति आगे खड़ी है, उसमें दूसरा भेद कुछ मत मानो। उन्हीं की सेवा-बन्दगी करो, फिर सब अंधकार मिट जायगा ॥ १५॥

ज्ञान समागम प्रेम सुख, दया भक्ति विश्वास।
गुरु सेवा ते पाइये, सद्गुरु चरण निवास॥ १६॥

ज्ञान, सन्त-समागम, सबके प्रति प्रेम, निर्वासनिक सुख, दया, भक्ति, सत्य-स्वरूप में विश्वास और सद्गुरु की शरण में निवास—ये सब गुरु की सेवा से मिलते हैं ॥ १६॥

शिष खाँड़ा गुरु मसकला, चढ़ै शब्द खरसान।
शब्द सहै सम्मुख रहै, निपजै शीष सुजान ॥ १७॥

शिष्य तलवार है, गुरु सिकलीगर हैं, वे निर्णय शब्दरूपी शान पर उसे चढ़ाकर मस्कला देते हैं। जो गुरु के शब्द की रगड़ सहता है और सम्मुख रहता है, वह बुद्धिमान शिष्य ज्ञान में परिपुष्ट हो जाता है ॥ १७॥

जल परमाने माछली, कुल परमाने शुद्धि।
जाको जैसा गुरु मिला, ताको तैसी बुद्धि॥ १८॥

छोटे-बड़े तालाब, नदी, समुद्र आदि के जल के परिमाण-अनुसार ही छोटी-बड़ी मछलियां होती हैं, और ऊंच-नीच कुल-खानदान के अनुसार प्राय: स्वाभाविक कम-विशेष शुद्धि रहती है। इसी प्रकार जिसको जैसा गुरु मिलता है, उसको वैसी बुद्धि मिलती है ॥ १८॥

जैसी प्रीति कुटुम्ब की, तैसी गुरु सों होय।
कहैं कबीर ता दास का, पला न पकड़ै कोय॥ १९॥

जिस प्रकार लोग स्त्री-पुत्रादि कुटुम्बियों से प्रेम करते हैं, यदि उसी प्रकार गुरु के प्रति हो जाय, तो फिर उस सेवक का क्या पूछना! सहज ही कल्याण है ॥ १९॥

सब धरती कागज करूँ, लिखनी सब बनराय।
सात समुँद्र की मसि करूँ, गुरुगुण लिखा न जाय॥ २०॥

सब पृथ्वी को कागज, सब जंगल को कलम, सातों समुद्रों को स्याही बनाकर लिखने पर भी गुरु के गुण नहीं लिखे जा सकते ॥ २०॥

अहं अगिन निशि दिन जरै, गुरु सो चाहे मान।
ताको जम न्योता दिया, होउ हमार मेहमान॥ २१॥

जो अहंकार की आग में रात-दिन जलते हैं और गुरु से अपना मान चाहते हैं, उनको बुरी वासना रूपी यम ने निमन्त्रण दिया है कि आओ हमारे पाहुन बनो—गुरुशरण योग्य तुम नहीं हो॥ २१॥

पंडित पढ़ि गुनि पचि मुये, गुरु बिन मिलै न ज्ञान।
ज्ञान बिना नहिं मुक्ति है, सत्त शब्द परमान॥ २२॥

बड़े-बड़े विद्वान शास्त्रों को पढ़-गुनकर पच मरते हैं, परन्तु गुरु के बिना उन्हें ज्ञान नहीं मिलता। सत्य शब्दों के प्रमाणानुसार ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती ॥ २२॥

मूल ध्यान गुरु रूप है, मूल पूजा गुरु पाँव।
मूल नाम गुरु वचन है, मूल सत्य सतभाव ॥ २३॥

ध्यान का मूल गुरु का ध्यान है, पूजा का मूल गुरु-चरणों की पूजा है। गुरु के वचनामृत ही सब नामजपों से बढ़कर हैं, सत्य के साक्षात्कार के लिए सत्य की जिज्ञासा ही मूल है॥ २३॥

कहैं कबीर तजि भरम को, नन्हा है कर पीव।
तजि अहं गुरु चरण गहु, जमसों बाचै जीव॥ २४॥

कबीर साहेब कहते हैं कि भ्रम को छोड़ो, छोटा बच्चा बनकर गुरु-वचन रूपी दूध को पीयो। इस प्रकार अंहकार त्यागकर गुरु के चरणों की शरण ग्रहण करो, तभी जीव पाप से बचेगा ॥ २४॥

कोटिन चन्दा उगही, सूरज कोटि हजार।
तीमिर तौ नाशै नहीं, बिन गुरु घोर अँधार॥ २५॥

करोड़ों चन्द्रमा और हजारों करोड़ सूर्य उदित हों, तो भी अज्ञान-अन्धकार

का नाश नहीं होगा। अतएव बिना गुरु के घोर अज्ञान का ही तिमिराच्छन्न रहेगा॥ २५॥

सोइ सोइ नाच नचाइये, जेहि निबहे गुरु प्रेम।
कहैं कबीर गुरु प्रेम बिन, कितहुँ कुशल नहिं क्षेम॥ २६॥

अपने मन-इन्द्रियों को उसी चाल में चलाओ, जिससे गुरु के प्रति प्रेम निपटता जाय। कबीर साहेब कहते हैं कि गुरु के प्रेम-बिना, कहीं कुशल-क्षेम नहीं है ॥ २६॥

तन मन शीष निछावरै, दीजै सरबस प्रान।
कहैं कबीर दुख सुख सहै, सदा रहै गलतान॥ २७॥

शिष्य को चाहिए कि अपने तन, मन, प्राण एवं सर्वस्व को गुरु के चरणों में समर्पित कर दे। कबीर साहेब कहते हैं, इसमें जो दुख-सुख हों, उन्हें सहे और सदैव गुरु-प्रेम में लवलीन रहे॥ २७॥

तबही गुरु प्रिय बैन कहि, शीष बढ़ी चित प्रीत।
तो रहिये गुरु सनमुखाँ, कबहुँ न दीजै पीठ॥ २८॥

शिष्य के मन में बढ़ी हुई प्रीति देखकर ही गुरु मोक्षोपदेश करते हैं। अतः गुरु के सम्मुख रहो, कभी विमुख मत बनो॥ २८॥

जो गुरु पूरा होय तो, शीषहि लेय निबाहि।
शीष भाव सुत जानिये, सुत ते श्रेष्ठ शिष आहि॥ २९॥

यदि विवेक-वैराग्य-पूर्ण गुरु मिल जाय, तो वह योग्य शिष्य को निभा लेता है। शिष्य-भाव, पुत्र-भाव एक समझो, फिर भी पुत्र से शिष्य श्रेष्ठ होता है, क्योंकि पुत्र सांसारिक स्वार्थ-वश है और शिष्य कल्याण-इच्छुक है ॥ २९॥

अबुध सुबुध सुत मातु पितु, सबहिं करै प्रतिपाल।
अपनी ओर निबाहिये, सिख सुत गहि निज चाल॥ ३०॥

माता-पिता निर्बुद्धि-बुद्धिमान सभी पुत्रों का प्रतिपाल करते हैं। पुत्र की भांति ही शिष्य को गुरुदेव अपनी मर्यादा की चाल से निभाते हैं ॥ ३०॥

सुनिये सन्तों साधु मिलि, कहहिं कबीर बुझाय।
जेहि विधि गुरु सों प्रीति है, कीजै सोइ उपाय॥ ३१॥

कबीर साहेब समझाकर कहते हैं कि ऐ साधु-सन्तो! सब मिलकर सुनो! जिस प्रकार गुरु से दृढ़ प्रेम हो, वही उपाय सदैव करो ॥ ३१ ॥

करै दूरि अज्ञानता, अंजन ज्ञान सुदेय।
बलिहारी वे गुरुन की, हंस उबारि जु लेय ॥ ३२ ॥

ज्ञान का अंजन लगाकर शिष्य के अज्ञान दोष को दूर कर देते हैं। उन गुरुजनों की प्रशंसा है, जो जीवों को भव से बचा लेते हैं ॥ ३२ ॥

भौ सागर की त्रास ते, गुरु की पकड़ो बाँहि।
गुरु बिन कौन उबारसी, भौ जल धारा माँहि ॥ ३३ ॥

संसार-सागर के दुखों से बचने के लिए गुरु का हाथ पकड़ो। गुरु के बिना संसार-सागर से कौन तार सकता है! ॥ ३३ ॥

लौ लागी विष भागिया, कालख डारी धोय।
कहैं कबीर गुरु साबुन सों, कोई इक ऊजल होय ॥ ३४ ॥

गुरु के चरणों में प्रेम लगने से विषय-वासना रूपी विष दूर हो जाता है, वह शिष्य हृदय के विकार रूपी कज्जल को धो डालता है। कबीर साहेब कहते हैं कि गुरु के ज्ञान-साबुन से कोई-कोई विरला ही उज्ज्वल होता है ॥ ३४ ॥

साबुन बिचारा क्या करे, गाँठे राखे मोय।
जल सो अरसा परस नहिं, क्यों कर ऊजल होय ॥ ३५ ॥

साबुन बेचारा क्या करे, जब उसे गांठ में बांध रखा है। जल से स्पर्श करता ही नहीं, फिर कपड़ा कैसे उज्ज्वल हो! ॥ ३५ ॥

भाव—ज्ञान की वाणी तो कंठ कर ली, परन्तु उसका विचार नहीं करता, तो मन कैसे शुद्ध हो!

राजा की चोरी करे, रहै रंक की ओट।
कहैं कबीर क्यों उबरै, काल कठिन की चोट ॥ ३६ ॥

कोई राजा के घर में चोरी करके दरिद्र की शरण लेकर बचना चाहे, तो कैसे बचेगा! इसी प्रकार सद्गुरु से मुख छिपाकर और कल्पित देवी-देवताओं की शरण लेकर कल्पना की कठिन चोट से जीव कैसे बचेगा! ॥ ३६ ॥

२
सतगुरु को अंग

(इसमें सद्‌गुरु का महत्त्व-प्रदर्शन है।)

सतगुरु सम कोई नहीं, सात दीप नौ खण्ड।
तीन लोक न पाइये, अरु इकइस ब्रह्मण्ड॥ १॥

आप सात द्वीप, नौ खण्ड, तीन लोक, इक्कीस ब्रह्माण्डों में सद्‌गुरु के समान हितकारी किसी को नहीं पायेंगे॥ १॥

सतगुरु शरण न आवहीं, फिरफिर होय अकाज।
जीव खोय सब जायँगे, काल तिहूँ पुर राज॥ २॥

जो लोग सद्‌गुरु की शरण में नहीं आते, उनका बारम्बार अकाज होता है। गुरु-बिन सब जीव भ्रष्ट हो जायंगे, क्योंकि तीनों लोक (तीनों-गुण) में मन-काल का राज्य है॥ २॥

सतगुरु तो सतभाव है, जो अस भेद बताय।
धन्य शीष धन भाग तिहिं, जो ऐसी सुधि पाय॥ ३॥

सद्‌गुरु सत्य-भाव का भेद बताने वाला है। वह शिष्य धन्य है तथा उसका भाग्य भी धन्य है जो गुरु के द्वारा अपने स्वरूप की सुधि पा गया है॥ ३॥

सतगुरु मिले जु सब मिले, न तो मिला न कोय।
मात पिता सुत बाँधवा, ये तो घर घर होय॥ ४॥

यथार्थ सद्‌गुरु यदि तुम्हें मिल गये तो जानो सब कुछ मिल गया, यदि वे नहीं मिले तो जानो कुछ नहीं मिला। माता-पिता, पुत्र-भाई ये तो घर-घर रहते हैं॥ ४॥

सतगुरु मिला जु जानिये, ज्ञान उजाला होय।
भ्रम का भांड़ा तोड़ि करि, रहै निराला होय॥ ५॥

सद्‌गुरु मिल गये, यह बात तब जानो जब तुम्हारे हृदय में ज्ञान का प्रकाश हो जाय, भ्रम का भण्डा फोड़कर निराले स्वरूपज्ञान को प्राप्त हो जाय॥ ५॥

सतगुरु की माने नहीं, अपनी कहै बनाय।
कहैं कबीर क्या कीजिये, और मता मन माय॥ ६॥

जो सद्गुरु के यथार्थ ज्ञान की बात नहीं मानता, अपनी उलटी-सीधी बातों को गढ़-छीलकर कहता है, कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसे मनुष्य से क्या करियेगा, उसके मन में तो कुछ और ही विचार है ॥ ६॥

मनहिं दिया निज सब दिया, मन के संग शरीर।
अब देवे को क्या रहा, यों कथि कहहिं कबीर॥ ७॥

यदि तूने अपना मन गुरु को दे दिया तो जानो सब दे दिया; क्योंकि मन के साथ ही शरीर है, वह अपने आप समर्पित हो गया। अब देने को रहा ह क्या! ॥ ७॥

जेहि खोजत ब्रह्मा थके, सुर नर मुनि अरु देव।
कहैं कबीर सुन साधवा, करु सतगुरु की सेव॥ ८॥

जिस मुक्ति को खोजते-खोजते ब्रह्मा, सुर-नर-मुनि और देवता सब थक गये, हे सन्तो! उसकी प्राप्ति के लिए सद्गुरु की सेवा करो॥ ८॥

जग में युक्ति अनूप है, साधु संग गुरु ज्ञान।
तामें निपट अनूप है, सतगुरु लागा कान॥ ९॥

दुखों से छुटने के लिए संसार में उपमारहित युक्ति सन्तों की संगत और गुरु का ज्ञान है। उसमें अत्यन्त उत्तम बात यह है कि सद्गुरु के वचनों पर ध्यान दे॥ ९॥

कबीर समुझा कहत है, पानी थाह बताय।
ताकूं सतगुरु का करे, जो औघट डूबे जाय॥ १०॥

कबीर साहेब कहते हैं कि कोई अपनी जानी हुई बात कहे, और पानी की थाह बतावे; परन्तु उसकी बात न मानकर पथिक कुघाट में जाकर डूब मरे, तो उसके लिए क्या औषध है! इसी प्रकार गुरुज्ञान को न मानने वाले के लिए क्या उपाय है! ॥ १०॥

डूबा औघट न तरै, मोहिं अँदेशा होय।
लोभ नदी की धार में, कहा पड़ो नर सोय॥ ११॥

कुघाट में डूबा हुआ मनुष्य बचता नहीं। मुझे तो यह अन्देशा है कि लोभ की नदी-धारा में हे मनुष्यो! तुम कहां पड़े सोते हो! ॥ ११ ॥

बिन सतगुरु उपदेश, सुर नर मुनि नहिं निस्तरे।
ब्रह्मा विष्णु महेश, और सकल जिव को गिनै॥ १२ ॥

सद्‌गुरु के उपदेश-बिना सुर-नर-मुनि तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी नहीं तर सकते। फिर अन्य साधारण जीव की क्या गणना है! ॥ १२ ॥

केते पढ़ि गुनि पचि मुए, योग यज्ञ तप लाय।
बिन सतगुरु पावै नहीं, कोटिन करे उपाय॥ १३ ॥

कितने लोग शास्त्रों को पढ़-गुन और योग, यज्ञ, व्रत करके पच मुए; परन्तु बिना सद्‌गुरु के ज्ञान एवं शान्ति नहीं मिलती, चाहे कोई करोड़ों उपाय करे॥ १३ ॥

करहु छोड़ कुल लाज, जो सतगुरु उपदेश है।
होये तब जिव काज, निश्चय करि परतीत करु॥ १४ ॥

कुल की लज्जा छोड़कर सद्‌गुरु के उपदेशानुसार करो। तभी जीव का कल्याण होगा, यह निश्चयपूर्वक विश्वास कर लो ॥ १४ ॥

सतगुरु खोजो संत, जीव काज जो चाहहु।
मेटो भव को अंक, आवागवन निवारहु॥ १५ ॥

ऐ सन्तो! यदि अपने जीव का कल्याण चाहो, तो सद्‌गुरु की खोज करो। और भव के अंक अर्थात छाप, दाग या पाप मिटाकर जन्म-मरण से रहित हो जाओ ॥ १५ ॥

जग भव सागर माहिं, कहु कैसे बूड़त तरै।
गहु सतगुरु की बाहिं, जो जल थल रक्षा करै॥ १६ ॥

संसार-सागर में डूबता हुआ जीव कहो कैसे तरेगा? उत्तर यह है कि सद्‌गुरु का हाथ पकड़ो, जो सर्वत्र रक्षा करने वाले हैं॥ १६ ॥

यह सतगुरु उपदेश है, जो माने परतीत।
करम भरम सब त्यागि के, चलै सो भव जल जीत॥ १७ ॥

यही सद्‌गुरु का यथार्थ उपदेश है, यदि मन विश्वास करे। सद्‌गुरु उपदेशानुसार चलने वाला कर्म-भ्रम त्यागकर, संसार-सागर से तर जाता है॥ १७ ॥ ५३० ॥

३

गुरु पारख को अंग

(इस प्रसंग में गुरु की कसौटी का वर्णन है।)

गुरु लोभी शिष लालची, दोनों खेले दावँ।
दोनों बूड़े बापुरे, चढ़ि पाथर की नाँव॥ १॥

"लोभी गुरु लालची चेला, दोनों नरक में ठेलिक ठेला" वाली बात दोनों अपने-अपने दावं खेलते हैं। वे दोनों बेचारे अज्ञान रूपी पत्थर की नावका पर बैठकर डूब मरेंगे॥ १॥

जाका गुरु है आँधरा, चेला खरा निरंध।
अन्धे को अन्धा मिला, पड़ा काल के फन्द॥ २॥

जिसका गुरु ही अविवेकी है, वह शिष्य स्वयं महा अविवेकी होगा। अविवेकी शिष्य को अविवेकी गुरु मिल गया, फलतः दोनों कल्पना के हाथ में पड़ गये ॥ २॥

जानीता बूझा नहीं, बूझि किया नहिं गौन।
अंधे को अंधा मिला, राह बतावे कौन॥ ३॥

विवेकी गुरु से जान-बूझ-समझ कर परमार्थ-पथ में नहीं चला। अन्धे को अन्धा मिल गया, फिर मार्ग कौन बताये॥ ३॥

आगे अन्धा कूप में, दूजे लिया बुलाय।
दोनों बूड़े बापुरे, निकसे कौन उपाय॥ ४॥

अविवेकी गुरु प्रथम ही भ्रम के कुएं में पड़ा था, दूसरे शिष्य को भी बुलाकर उसी में डाल दिया। वे दोनों बेचारे उसी में डूब गये, वे किस उपाय से निकलें! ॥ ४॥

गुरू गुरू में भेद है, गुरू गुरू में भाव।
सोई गुरू नित बन्दिये, शब्द बतावे दावँ॥ ५॥

गुरु-गुरु में बड़ा अन्तर है, उनके भाव भी भिन्न-भिन्न हैं। वही गुरु सदैव वन्दनीय है, जो सारशब्द परखने का दावं बतावे ॥५॥

पूरा सतगुरु ना मिला, सुनी अधूरी सीख।
स्वाँग यती का पहिनिके, घर घर माँगी भीख॥६॥

जिसको पूरा सद्गुरु नहीं मिला और अधूरी शिक्षा सुनकर साधु का वेष पहन घर-घर भिक्षा मांगने लगे, उसका कल्याण नहीं होता ॥६॥

कबीर गुरु है घाट का, हाँटू बैठा चेल।
मूड़ मुड़ाया साँझकूं, गुरू सबेरे ठेल॥७॥

गुरु तो निवृत्तिपरायण है और शिष्य बाजार में बैठने वाला प्रवृत्ति मार्ग का है, तो नहीं निपटता। शाम को मूड़ मुड़ाकर संन्यासी हुए और सुबह गुरु को छोड़कर अकेले अवधूत बन गये॥७॥

गुरू किया है देह का, सतगुरु चीन्हा नाँहि।
भवसागर के जाल में, फिर फिर गोता खाँहि॥८॥

केवल जाति, रंग-रूप, विद्यादि देखकर ही जो गुरु किया, वह देह को गुरु बनाया है, वास्तविक सद्गुरु को नहीं परख पाया। ऐसे लोग बारम्बार भव-सागर में डूबेंगे ॥८॥

जा गुरु ते भ्रम न मिटे, भ्रान्ति न जिवका जाय।
सो गुरु झूठा जानिये, त्यागत देर न लाय॥९॥

जिस गुरु से अज्ञान न दूर हो और हृदय का सन्देह न मिटे, ऐसे गुरु को झूठा समझो और उसे छोड़ने में विलम्ब न करो॥९॥

झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजै बार।
द्वार न पावै शब्द का, भटके बारम्बार॥१०॥

झूठे गुरु के पक्ष को त्यागने में विलम्ब न करो, क्योंकि उसके द्वारा गुरुमुख सारशब्द का द्वार नहीं मिलता, अपितु जीव भ्रांति की वाणियों में बारम्बार भटकता है॥१०॥

साँचे गुरु के पक्ष में, मन को दे ठहराय।
चंचल से निश्चल भया, नहिं आवै नहिं जाय॥११॥

सच्चे गुरु के पक्ष में मन को जोड़ दो। फिर तो चंचलता छोड़कर तुम निश्चल पद पा जाओगे और जन्म-मरण छूट जायेंगे॥ ११॥

जा गुरु को तो गम नहीं, पाहन दिया बताय।
शिष शोधे बिन सेइया, पार न पहुँचा जाय॥ १२॥

जिस गुरु को ज्ञान-मार्ग का पता नहीं है, उसने शिष्य को केवल पत्थर-पूजना बता दिया। बिना परख किये शिष्य उसी का सेवन करने लगा। अन्ततः पार न पाया॥ १२॥

सद्‌गुरु ऐसा कीजिये, लोभ मोह भ्रम नाहिं।
दरिया सो न्यारा रहे, दीसे दरिया माहिं॥ १३॥

सद्‌गुरु ऐसा करो, जिसके हृदय में लोभ, मोह एवं भ्रम न हो। संसार में विचरते दिखते हुए भी संसार-सागर से पृथक रहे ॥ १३॥

कबीर बेड़ा सार का, ऊपर लादा सार।
पापी का पापी गुरू, यों बूड़ा संसार॥ १४॥

कबीर साहेब कहते हैं कि लोहा की नाव पर लोहा का भार लादा। पापी मनुष्य को पापी गुरु मिल गया, इस प्रकार संसारी डूब गये॥ १४॥

गुरू नाम है गम्य का, शीष सीख ले सोय।
बिनु पद बिनु मरजाद नर, गुरू शीष नहिं कोय॥ १५॥

गुरु नाम उसका है, जो सत्य का पता बतावे। शिष्य वह है जो शिक्षा ले। इस प्रकार गुरु-शिष्य की पद-मर्यादा बिना कोई गुरु-शिष्य नहीं होता ॥ १५॥

गु अँधियारी जानिये, रु कहिये परकाश।
मिटि अज्ञाने ज्ञान दे, गुरू नाम है तास॥ १६॥

'गु' नाम अंधियारी (अज्ञान) है, 'रु' कहते हैं प्रकाश (ज्ञान) को। अज्ञान को मिटाकर जो ज्ञान दे, उसका नाम है 'गुरु' ॥ १६॥

जाका गुरु है गीरही, गिरही चेला होय।
कीच कीच के धोवते, दाग न छूटे कोय॥ १७॥

जिसका गुरु गृहस्थ है, उस गृहस्थ शिष्य का कल्याण कैसे होगा! कीचड़ का दाग क्या कीचड़ से छूट सकता है! ॥ १७॥

गुरुवा तो सस्ता भया, कौड़ी अर्थ पचास।
अपने तन की सुधि नहीं, शिष्य करन की आस॥ १८॥

पैसे के लिए सस्ते हुए पचासों लोभी गुरु घूमते हैं। उन्हें अपने तन की तो खबर नहीं है कि हमारा क्या आचरण है, परन्तु शिष्य-शाखा बनाने की आशा करते हैं॥ १८॥

गुरुवा तो घर घर फिरे, दीक्षा हमारी लेह।
कै बूड़ो कै ऊबरो, टका परदनी देह॥ १९॥

घर-घर, द्वार-द्वार गुरुआ पुकारते फिरते हैं कि हमसे मन्त्र ले लो, चाहे तुम बूड़ो कि उबरो, हमें पैसा-धोती से काम है॥ १९॥

यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान॥ २०॥

यह शरीर तो विष की लता है। सद्गुरु अमृत की खान हैं। सिर दे देने पर भी यदि सच्चे सद्गुरु मिल जायं, तो भी सस्ता समझो॥ २०॥

गुरु मिला तब जानिये, मिटै मोह तन ताप।
हरष शोक व्यापे नहीं, तब गुरु आपे आप॥ २१॥

गुरु मिला तब जानो जब अपने तन-मन के ताप मिट जायं। मन में हर्ष-शोक न व्याप्त हो, ऐसी अवस्था में तो वह अपने आप (स्वयं) गुरु रूप हो जायगा॥ २१॥

बंधे को बंधा मिला, छूटै कौन उपाय।
कर सेवा निरबंध की, पल में लेय छुड़ाय॥ २२॥

एक बंधे हुए को दूसरा बंधा हुआ मिल गया, तो वह कैसे छूट सकता है! अतः निर्बन्ध की सेवा करो, वह पल में छुड़ा लेगा॥ २२॥

भाव—खानी-वाणी से विरक्त गुरु की शरण लो।

गुरू बिचारा क्या करे, हृदया भया कठोर।
नौ नेजा पानी चढ़ा, पथर न भीजी कोर॥ २३॥

गुरु बेचारे सच्चे होते हुए भी क्या करेंगे जबकि शिष्य का हृदय कठोर है। पत्थर पर चौव्वन हाथ पानी चढ़ जाय, तो भी उसकी कोर तक नहीं भींगती है॥ २३॥

(नेजा कहते हैं भाला या बरछा को, इसमें छः हाथ का बांस लगा रहता है। नौ नेजा, ९ × ६ = ५४)

गुरू बिचारा क्या करै. शब्द न लागै अंग।
कहैं कबीर मैली गजी, कैसे लागे रंग॥ २४॥

बेचारा गुरु क्या करे, जब उसका निर्णय-शब्द शिष्य के मन में नहीं घुसता, जैसे मैली चादर में अच्छा रंग नहीं चढ़ता ॥ २४॥

कहता हूँ कहि जात हूँ, देता हूँ हेला।
गुरु की करनी गुरु जाने, चेला की चेला॥ २५॥

पुकारकर कहता जाता हूं, और निर्णय सुनाये जाता हूं, गुरु अपनी करनी भोगेंगे, शिष्य अपनी करनी भोगेंगे॥ २५॥ ७८॥

भाव—हेला नाम हल करना, निर्णय करना।

४

गुरु-शिष्य हेरा को अंग

(इसमें गुरु-शिष्य की पारस्परिक खोज की बातें हैं।)

ऐसा कोई ना मिला, जासू कहूँ निसंक।
जासो हिरदा की कहूँ, सो फिर मारे डंक॥ १॥

ऐसा कोई नहीं मिला (कम मिले) जिससे निर्भय होकर अपनी यथार्थ बातें कहूं। अपने हृदय की बातें जिससे कहता हूं वह फिर डंक मारता है॥ १॥

हिरदे ज्ञान न उपजै, मन परतीत न होय।
ताको सद्गुरु कहा करे, घन घसि कुल्हर न होय॥ २॥

जिसके हृदय में विवेक नहीं उत्पन्न होता और मन में श्रद्धा-विश्वास भी नहीं है, उसको सद्गुरु क्या करेंगे, घन को घिसकर कुल्हाड़ी नहीं बनायी जा सकती॥ २॥

शिष्य पूजै गुरु आपना, गुरु पूजे सब साध।
कहैं कबीर गुरु शीष को, मत है अगम अगाध॥ ३॥

शिष्य अपने गुरु की पूजा करता है और गुरु सब साधुओं की पूजा करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि गुरु-शिष्य का मत (साधारण के लिए) अगम अपार है॥ ३॥

शिष किरपिन गुरु स्वारथी, मिले योग यह आय।
कीच कीच के दाग को, कैसे सकै छुड़ाय॥ ४॥

कृपण-शिष्य, स्वार्थी-गुरु का अच्छा संयोग पड़ गया। कीचड़ के दाग को कीचड़ कैसे छुड़ायेगा!॥ ४॥

देश दिशान्तर मैं फिरूँ, मानुष बड़ा सुकाल।
जा देखै सुख उपजै, वाका पड़ा दुकाल॥ ५॥

देश-देशान्तरों में घूमकर मैंने देखा तो मनुष्यों की कमी नहीं है। परन्तु जिसके दर्शन से सुख उत्पन्न हो उसका दुकाल पड़ा है ॥ ५ ॥

सत को खोजत मैं फिरूँ, सतिया मिलै न कोय।
जब सत कूँ सतिया मिले, विष तजि अमृत होय ॥ ६ ॥

मैं सत्य को खोजता फिरता हूं, परन्तु कोई सत्यवादी, सत्य रहनी वाला नहीं मिलता (कम मिलते हैं)। जब सत्य-इच्छुक को सत्यधारी मिल जाते हैं, तो वह विष से रहित होकर अमृत हो जाता है ॥ ६ ॥

स्वामी सेवक होय के, मनही में मिलि जाय।
चतुराई रीझै नहीं, रहिये मन के माँय ॥ ७ ॥

स्वामी-सेवक बनकर दोनों का दिल एक होना चाहिए। चालाकी करने में न मोहे, एक-दूसरे के मन में अपना मन मिलाये रहे ॥ ७ ॥

गुरु कीजिये जानि के, पानी पीजै छानि।
बिना बिचारे गुरु करे, पैर चौरासी खानि ॥ ८ ॥

जान-समझ कर गुरु का चुनाव करो, छानकर जल पीयो। जो बिना विचार किये ही गुरु करता है, वह चौरासी चक्कर में भटकता है ॥ ८ ॥ ८६ ॥

५

निगुरा को अंग

(इस प्रसंग में भक्ति-हीन लोगों का चित्रण है।)

चौसठ दीवा जोय के, चौदह चन्दा माहिं।
तेहि घर किसका चाँदना, जिहि घर सतगुरु .नाहिं॥ १॥

चौसठ कलाओं का ज्ञाता एवं चौदह विद्याओं में निपुण होकर भी, सद्गुरु-ज्ञान के बिना अंधियारा है॥ १॥

गगन मंडल के बीच में, तहँवा झलके नूर।
निगुरा महल न पावई, पहुँचेगा गुरु पूर॥ २॥

हृदयरूपी आकाश-मंडल में चेतनात्मा रूपी अंतर्ज्योति विद्यमान है। निगुरा इस दिव्य स्थिति में नहीं पहुंच सकता, पूर्ण सद्गुरु का शिष्य ही पहुंच सकता है॥ २॥

ऊजड़ घर में बैठ के, किसका लीजै नाम।
साकुट के संग बैठ के, क्यूँ कर पावै राम॥ ३॥

सूनसान घर में बैठ कर किसका नाम लेकर बुलायेंगे? इसी प्रकार आत्मज्ञान-हीन मनुष्य की संगत करके अंतरात्मा का बोध कैसे मिलेगा?॥ ३॥

कबीर गुरु की भक्ति बिन, राजा रासभ होय।
माटी लदै कुम्हार की, घास न डारै कोय॥ ४॥

गुरु की भक्ति बिना राजा भी गधा होगा। दिन भर कुम्हार की मिट्टी लादेगा और उसे कोई घास नहीं देगा॥ ४॥

कबीर हृदय कठोर के, शब्द न लागे सार।
सुधि बुधि के हिरदे विधे, उपजै ज्ञान विचार॥ ५॥

कठोर हृदय वाले मनुष्य को सारशब्द नहीं बेधता। जिसको कुछ सुधि-बुधि (श्रद्धा-जिज्ञासा) है, उसी के हृदय में वह बेधता है और ज्ञान-विचार उत्पन्न होते हैं॥ ५॥

झिरमिर झिरमिर बरसिया, पाहन ऊपर मेह।
माटी गलि पानी भई, पाहन वाही नेह॥ ६॥

पत्थर के ऊपर रिमझिम-रिमझिम पानी बहुत बरसा। नरम मिट्टी गलकर पानी में मिल गयी, परन्तु कठोर पत्थर अपनी कठोरता का ही प्रेमी बना रहा॥ ६॥

भाव—ज्ञानोपदेश नम्र व्यक्ति को लगता है, अहंकारी को नहीं।

हरिया जानै रुखड़ा, उस पानी का नेह।
सूखा काठ न जानिहै, कितहूं बूड़ा मेह॥ ७॥

हरा वृक्ष ही पानी का प्रेम जानता है, सूखे काठ को चाहे जितने गहरे पानी में डुबा दो, वह उसके महत्त्व को क्या जाने! ॥ ७॥

भाव—वृक्ष निर्जीव जड़ है, वह क्या जानेगा। सार यह है कि कोमल हृदय वाला ज्ञानोपदेश का आदर करता है। कठोर हृदय वाला ज्ञान का महत्त्व क्या जाने!

पशुआ सों पालो परो, रहु रहु हिया न खीज।
ऊसर बीज न ऊगसी, बोवै दूना बीज॥ ८॥

पशु-स्वभाव वाले मनुष्य का बारम्बार पाला पड़ने पर भी ज्ञानी का मन उसी प्रकार क्षुब्ध नहीं होता, जैसे दूना बीज बोने पर भी ऊसर पृथ्वी में वह नहीं उगता॥ ८॥

कबीर चन्दन के भिँर, नीम भी चन्दन होय।
बूड्यो बाँस बड़ाइया, यों जनि बूड़ो कोय॥ ९॥

चन्दन की संगत पाने पर नीम भी चन्दन हो जाता है, परन्तु बड़ा ऊंचा होने पर भी पोला, नीरस, गांठवाला होने से बांस चन्दन नहीं होता। इसी प्रकार कोई मिथ्या वर्णाभिमान की बड़ाई में पड़कर मत डूबो॥ ९॥

कबीर लहरि समुद्र की, मोती बिखरे आय।
बगुला परख न जानई, हंसा चुनि चुनि खाय॥ १०॥

समुद्र की लहर आने पर मोती किनारे आकर बिखर जाते हैं। बगुला तो उसकी परख जानता नहीं, हंस चुन-चुनकर खाते हैं॥ १०॥

भाव—सत्संग-समुद्र की सारशब्द-लहर में ज्ञान के मोती बिखर उठते हैं। अविवेकी उसको नहीं बूझता और विवेकी उससे लाभ उठाता है।

शुकदेव सरीखा फेरिया, तो को पावै पार।
बिनु गुरु निगुरा जो रहे, पड़ै चौरासी धार॥ ११॥

शुकदेव जैसे ज्ञानी को भी निगुरा होने से विष्णु जी ने अपनी सभा से घुमा दिया। फिर दूसरा साधारण व्यक्ति बिना गुरु के कैसे पार पावेगा! अतएव गुरुमुख हुए बिना मनुष्य चौरासी की धारा में पड़ता है॥ ११॥

कंचन मेरु अरपहीं, अरपैं कनक भण्डार।
कहैं कबीर गुरु बेमुखी, कबहुँ न पावै पार॥ १२॥

चाहे सुमेरु पर्वत बराबर सोना दान करे और चाहे रत्नों का भण्डार लुटा दे; परन्तु निगुरा मनुष्य कभी संसार-सागर से तर नहीं सकता॥ १२॥

साकट का मुख बिम्ब है, निकसत बचन भुवंग।
ताकी औषध मौन है, विष नहिं व्यापै अंग॥ १३॥

साकट (निगुरा) का मुख बांबी है, उससे कुवाक्य रूपी सर्प निकलते हैं। उसकी औषध मौन धारण करना है, इससे शरीर में विष नहीं व्यापता॥ १३॥

साकट कहा न कहि चलै, सुनहा कहा न खाय।
जो कौवा मठ हगि भरै, तो मठ को कहा नशाय॥ १४॥

निगुरा क्या नहीं बक डालता! कुत्ता क्या नहीं खा लेता! यदि कौआ मन्दिर में बीट कर दे, तो मन्दिर का क्या बिगड़ेगा! ॥ १४॥

साकट सूकर कूकरा, तीनों की गति एक।
कोटि जतन परमोधिये, तऊ न छाड़ै टेक॥ १५॥

साकट, शूकर और कुत्ता—इन तीनों की एक चाल है। करोड़ों उद्योग करके इन्हें उपदेश करो, तो भी वे अपना हठ नहीं छोड़ते ॥ १५॥

टेक न कीजै बावरे, टेक माहि है हानि।
टेक छाड़ि मानिक मिलै, सतगुरु बचन प्रमानि॥ १६॥

ऐ पगले! हठ मत कर, हठ करने में तेरी हानि है। हठ छोड़ने से गुरु-वचन प्रमाण ज्ञान-भक्ति रूपी रत्न मिलते हैं॥ १६॥

साकट संग न बैठिये, करन कुबेर समान।
ताके संग न चालिये, पड़ि हैं नरक निदान १७॥

कुसंगियों के साथ में मत बैठो, चाहे वे कर्ण और कुबेर के तुल्य हों। उनके संग में चलने से अन्ततः नरक ही होगा॥ १७॥

साकट सन का जेवरा, भीजै सो कराय।
दो अच्छर गुरु बाहिरा, बाँधा जमपुर जाय॥ १८॥

निगुरा सन की रस्सी है, वह ममता-मोह रूपी जल से भीगकर उत्तरोत्तर कड़ा ही होता जाता है। वह 'गुरु'—इन दो अक्षरों से बहरा होने के कारण कुकर्म रूपी यमपुरी में बांधा हुआ जाता है॥ १८॥

कबीर साकट की सभा, तू मति बैठे जाय।
एक गुवाड़े कदि बड़ै, रोज गदहरा गाय॥ १९॥

साकटों की सभा में तुम जाकर मत बैठो। क्योंकि एक गुवाड़ा (गोशाला) में नीलगाय, गधा और गाय के रहने से परस्पर अवश्य झगड़ा होगा ॥ १९॥

संगत सोई बिगुर्चई, जो है साकट साथ।
कंचन कटोरा छाड़ि के, सनहक लीन्हीं हाथ॥ २०॥

जो साकट की संगत एवं साथ में रहता है, वह उलझन में पड़ जाता है। इसलिए विरक्त जन स्वर्ण पात्र त्यागकर मिट्टी पात्र से निर्वाह करते हैं; परन्तु साकट के पात्र नहीं लेते॥ २०॥

आँखों देखा घी भला, न मुख मेला तेल।
साधू सों झगड़ा भला, ना साकट सो मेल॥ २१॥

घी के दर्शन मात्र अच्छे हैं; परन्तु मुख में डाला हुआ तेल अच्छा नहीं। इसी प्रकार सन्तों से झगड़ा अच्छा; परन्तु साकटों का मेल-मिलाप अच्छा नहीं ॥ २१॥

भाव—सन्तों से झगड़ा होने पर अन्त में कुछ न्याय होगा; परन्तु साकटों के मेल-मिलाप से अन्त में दुख होगा।

हरिजन की लाताँ भली, बुरी साकट की बात।
लातों में सूख उपजे, बातें इज्जत जात॥ २२॥

संतों की लातें खाना अच्छा है, किंतु विवेक-हीन से बात करना अच्छा नहीं है। संतों की लात खाने में आत्मसंतोष का सुख मिलेगा और विवेकहीन से बातें करने में अपनी मर्यादा नष्ट होगी॥ २२॥

खसम कहावै बैस्नव, घर में साकट जोय।
एक घरा में दो मता, भक्ति कहाँ ते होय॥ २३॥

पति भक्त और स्त्री साकट होने से एक ही घर में दो मत हो जाते हैं, फिर भक्ति का निर्वाह कैसे हो!॥ २३॥

हरिजन आवत देखि के, मोंहड़ो सूखि गयो।
भाव भक्ति समझ्यो नहीं, मूरख चूकि गयो॥ २४॥

हरि-भक्तों (सन्तों) को आते हुए देखकर जिसका मुख सूख जाता है, वह मूर्ख भाव-भक्ति न समझने से कल्याण साधना से असावधान हो गया॥ २४॥

निगुरा ब्राह्मण नहिं भला, गुरुमुख भला चमार।
देवतन से कुत्ता भला, नित उठि भूँके द्वार॥ २५॥

निगुरा ब्राह्मण अच्छा नहीं, गुरुमुख चमार अच्छा है। जड़-देवताओं से तो कुत्ता अच्छा है, जो नित्य उठकर द्वार पर भूंकता और चोरों से घर की रक्षा करता है। जड़-देवता तो अपनी ही रक्षा नहीं कर पाता॥ २५॥ १११॥

६

साधु को अंग

(इस प्रसंग में सन्तों के गुणों एवं दर्शनादि का वर्णन है)

कबीर दर्शन साधु के, करत न कीजै कानि।
ज्यों उद्यम से लक्ष्मी, आलस मन से हानि॥ १॥

अपनी मर्यादा एवं अभिमान को त्यागकर सन्त-दर्शन करने जाओ। जैसे उद्यम से लक्ष्मी मिलती है, मन में आलस लाने से हानि होती है ॥ १ ॥

कबीर सोई दिन भला, जा दिन साधु मिलाय।
अंक भरे भरि भेटिये, पाप शरीरा जाय॥ २॥

सन्त मिलने का दिन उत्तम है। सन्तों से दिल खोलकर मिलो, मन के दोष दूर होंगे॥ २॥

कबीर दर्शन साधु का, बड़े भाग दरशाय।
जो होवै सूली सजा, काँटे ई टरि जाय॥ ३॥

बड़े भाग से सन्त-दर्शन मिलते हैं। सूली का दण्ड भी कांटे लगकर समाप्त हो जाते हैं ॥ ३॥

दरशन कीजै साधु का, दिन में कइ कइ बार।
आसोजा का मेह ज्यों, बहुत करे उपकार॥ ४॥

दिन में कई बार सन्तों के दर्शन करो। ये आश्विन (क्वार) महीने की वृष्टि के समान बहुत उपकारी हैं ॥ ४॥

कई बार नहि कर सकै, दोय बखत करि लेय।
कबीर साधू दरश ते, काल दगा नहिं देय॥ ५॥

दिन में कई बार न कर सके तो दो बार कर ले। सन्तों के दर्शन करने से काल (कल्पना-अज्ञान) जीव को धोखा नहि दे सकता॥ ५॥

दोय बखत नहिं करि सके, दिन में करु इकबार।
कबीर साधु दरश ते, उतरैं भव जल पार॥ ६॥

दो समय न कर सके तो दिन में एक बार कर ले। सन्तों के दर्शन से जीव संसार-सागर से उद्धार पाता है ॥ ६॥

एक दिना नहिं करि सके, दूजे दिन कर लेह।
कबीर साधू दरश ते, पावै उत्तम देह॥ ७॥

प्रतिदिन न कर सके तो दूसरे दिन किया करे। सन्तों के दर्शन से जीव कल्याण-साधना करने योग्य उत्तम नर देह पाता है॥ ७॥

दूजे दिन नहिं करि सके, तीजे दिन करु जाय।
कबीर साधू दरश ते, मोक्ष मुक्ति फल पाय॥ ८॥

दूसरे दिन न कर सके, तो तीसरे दिन जाकर संत-दर्शन करे। संतों के दर्शन से जीव मोक्ष एवं मुक्ति रूपी महान फल पाता है॥ ८॥.

तीजे चौथे नहिं करे, वार बार करु जाय।
यामें विलंब न कीजिये, कहैं कबीर समुझाय॥ ९॥

यदि तीसरे-चौथे दिन भी न कर सके तो साप्ताहिक जाकर किया करे; परन्तु इसमें भी विलम्ब नहीं करना चाहिए॥ ९॥

वार वार नहिं करि सके, पाख पाख करि लेय।
कहैं कबीर सो भक्त जन, जन्म सुफल करि लेय॥ १०॥

यदि साप्ताहिक न कर सके, तो पन्द्रह दिन में कर लिया करे। ऐसे भक्त भी अपना जन्म सफल बना सकते हैं॥ १०॥

पाख पाख नहिं करि सकै, मास मास करु जाय।
यामें देर न लाइये, कहैं कबीर समुझाय॥ ११॥

यदि पन्द्रह दिन में भी न कर सके, तो महीने-महीने में जाकर किया करे; परन्तु इसमें भी विलम्ब न लाओ ॥ ११॥

मास मास नहिं करि सकै, छठे मास अलबत्त।
यामें ढील न कीजिये, कहैं कबीर अविगत्त॥ १२॥

यदि महीने-महीने में न कर सके, तो छठें महीने में अवश्य करे। अविनाशी बोधदाता गुरु कबीर कहते हैं कि इसमें भी शिथिलता मत करो॥ १२॥

छठे मास नहिं करि सके, बरस दिना करि लेय।
कहैं कबीर सो भक्त जन, जमहिं चुनौती देय॥ १३॥

यदि छह महीने में भी न कर सके, तो वर्ष भर में कर ले। ऐसे भक्तजन भी कुवासना से पार पा सकते हैं॥ १३॥

बरस बरस नहिं करि सकै, ताको लागे दोष।
कहैं कबीर वा जीव सो, कबहुँ न पावै मोष॥ १४॥

यदि बरस-बरस में भी न कर सके, तो उस भक्त को दोष लगता है। ऐसा जीव ऐसे आचरण से कभी मोक्ष नहीं पा सकता॥ १४॥

मात पिता सुत इस्तरी, आलस बन्धू कानि।
साधु दरश को जब चलैं, ये अटकावैं आनि॥ १५॥

माता-पिता, पुत्र-स्त्री, आलस्य, भाई और मर्यादा (मान-बड़ाई) ये साधु-दर्शन के रोड़े हैं॥ १५॥

इन अटकाया न रुके, साधु दरश को जाय।
कबीर सोई संतजन, मोक्ष मुक्ति फल पाय॥ १६॥

इनके रोड़ा डालने से न रुककर, सन्त-दर्शन के लिए अवश्य जाना चाहिए। वे ही सन्त-भक्त जन मोक्ष-फल को पा सकते हैं॥ १६॥

साधु चलत रो दीजिये, कीजै अति सनमान।
कहैं कबीर कुछ भेट धरु, अपने वित्त अनुमान॥ १७॥

सन्तों को विदा करते समय प्रेम से विह्वल होकर रो दीजिये, उनका अत्यन्त सम्मान कीजिये, और अपने धन के योग्यतानुसार कुछ उनको भेंट कीजिये॥ १७॥

खाली साधु न विदा करु, सुन लीजै सब कोय।
कहैं कबीर कछु भेट धरु, जो तेरे घर होय॥ १८॥

सब कोई कान लगाकर सुन लो! सन्तों को खाली हाथ मत बिदा करो। तुम्हारे घर में जो देने योग्य हो, भेंट करो॥ १८॥

कबीर दरशन साधु के, खाली हाथ न जाय।
यही सीख बुध लीजिये, कहैं कबीर बुझाय॥ १९॥

छूछे हाथ सन्तों के दर्शन निमित्त न जाय, बुद्धिमान लोग यह शिक्षा लें। पत्र-पुष्प, मेवा-मिष्ठान्न, वस्त्र-द्रव्य जो बन सके कुछ अवश्य ले जायं॥ १९॥

सुनिये पार जो पाइया, छाजन भोजन आनि।
कहँ कबीर संतन को, देत न कीजै कानि॥ २०॥

सुनिये! यदि संसार-सागर से पार पाना चाहते हैं, तो भोजन-वस्त्र लाकर सन्तों को समर्पित करने में आगा-पीछा या अहंकार न करिये ॥ २० ॥

कबीर लौंग इलायची, दातुन माटी पानि।
कहँ कबीर सन्तन को, देत न कीजै कानि॥ २१॥

लौंग, इलायची, दातून, मिट्टी, पानी लाकर सन्तों को दो। इसमें लज्जा मत मानो॥ २१॥

टूका माही टूक दे, चीर माहि सो चीर।
साधु देत न सकुचिये, यों कथि कहहिं कबीर॥ २२॥

रोटी के टुकड़े में से टुकड़ा एवं कपड़े में से कपड़ा फाड़कर सन्तों को देने में संकोच मत करो॥ २२॥

साधू आवत देखिकर, हंसी हमारी देह।
माथा का ग्रह उतरा, नैनन बढ़ा सनेह॥ २३॥

सन्तों को आते हुए देखकर हमारा शरीर प्रफुल्लित हो गया। मस्तक के कुलक्षण एवं दुर्भाग्य दूर हो गये और नेत्रों में स्नेह बढ़ गया॥ २३॥

निराकार निजरूप है, प्रेम प्रीति सों सेव।
जो चाहै आकार को, साधू परतछ देव॥ २४॥

भौतिक आकार से रहित निज ज्ञानस्वरूप शुद्ध चेतन ही सच्चा देव है। उसका प्रेमपूर्वक सेवन करो, स्थिति करो। यदि साकार देव की सेवा करना चाहते हो तो प्रत्यक्ष महात्मा की सेवा करो॥ २४॥

साधू आया पाहुना, माँगै चार रतन।
धूनी पानी, साथरा, सरधा सेती अन्न॥ २५॥

सन्त पहुना आये हैं और वे चार रत्न मांग रहे हैं—श्रद्धापूर्वक धूनी, जल, आसन तथा भोजन॥ २५॥

साधू शब्द समुद्र हैं, जामें रत्न भराय।
मन्द भाग मुट्ठी भरे, कंकर हाथ लगाय॥ २६॥

संत सारशब्दों के समुद्र हैं, जिसमें ज्ञान रूपी रत्न भरे हैं। भाग्यहीन लोगों को ऐसे सन्तों के पास जाकर भी उनके हाथों में मुट्ठी भर कंकर ही लगता है (कुबुद्धि लोग सन्तों के पास जाकर उनके गुण नहीं लेते, बल्कि उनमें दोष ढूंढ़ते हैं) ॥ २६ ॥

साधु मिले यह सब टलै, काल जाल जम चोट।
शीश नवावत ढहि परै, अघ पापन को पोट॥ २७॥

सन्तों के मिलने पर मन-काल का जाल एवं कुवासनाओं का दावं टल जाते हैं। उनके सामने सिर झुकाते ही पाप की गठरी गिरकर नष्ट हो जाती है ॥ २७ ॥

साधु बिरछ सतज्ञान फल, शीतल शब्द विचार।
जग में होते साधु नहिं, जर मरता संसार॥ २८॥

सन्त जन वृक्ष हैं, सत्य ज्ञान का उनमें फल लगा है, उनके निर्णय शब्दों का विचार ही शीतल छाया है। संसार में यदि विवेकी सन्त न होते, तो संसारी कुकर्म में जल मरते ॥ २८ ॥

साधू भूखा भाव का, धन का भूखा नाहिं।
धन का भूखा जो फिरै, सो तो साधू नाहिं॥ २९॥

सन्त-जन भाव के भूखे होते हैं, धन के भूखे नहीं होते। जो धन का भूखा बनकर घूमता है वह तो साधु ही नहीं है ॥ २९ ॥

साधु बड़े परमारथी, घन ज्यों बरसे आय।
तपन बुझावैं और की, अपनो पारस लाय॥ ३०॥

सन्त जन बड़े परमार्थी होते हैं, वे बादल की भांति संसार में मड़ला-मड़ला कर ज्ञान-मेह की बारिश करते हैं और सत्संग से दूसरे के मानसिक ताप को दूर करते हैं ॥ ३० ॥

साधु बड़े परमारथी, शीतल जिनके अंग।
तपन बुझावै और की, दे दे अपनो रंग॥ ३१॥

संतजन बड़े परोपकारी होते हैं, उनके विचार शीतल होते हैं। अपना ज्ञान-रंग चढ़ा-चढ़ाकर अन्य के तपन को शांत करते हैं ॥ ३१ ॥

आवत साधु न हरखिया, जात न दीया रोय।
कहैं कबीर व दास की, मुक्ति कहाँ से होय॥ ३२॥

सन्तों को आते हुए देखकर जो हर्षायमान नहीं हुआ और उनको जाते हुए देखकर प्रेम से विह्वल होकर रो नहीं दिया, गुरु कबीर कहते हैं कि उस भक्त की मुक्ति कैसे होगी!॥ ३२ ॥

छाजन भोजन प्रीति सो, दीजै साधु बुलाय।
जीवत जस है जगत में, अन्त परम पद पाय॥ ३३ ॥

सन्तों को सादर बुलाकर उन्हें प्रेमपूर्वक भोजन-वस्त्रादि दो। ऐसा करने से जीते तक जगत में आपका सुयश होगा औ अन्त में श्रेष्ठ पद मिलेगा (कल्याण होगा) ॥ ३३ ॥

सरवर तरवर संत जन, चौथा बरसे मेह।
परमारथ के कारने, चारों धारी देह॥ ३४ ॥

सरोवर, वृक्ष, सन्तजन एवं चौथा मेह का बरसना—ये चारों परोपकार के लिए ही प्रकट हैं (सरोवर, वृक्ष एवं बादल तो जड़ हैं। सन्तों की परोपकारता में किसी का पटतर नहीं हो सकता) ॥ ३४ ॥

बिरछा कबहुँ न फल भखै, नदी न अँचवे नीर।
परमारथ के कारने, साधू धरा शरीर॥ ३५ ॥

वृक्ष कभी फल नहीं खाते, नदी कभी जल नहीं पीती, इसी प्रकार परोपकार के लिए ही सन्तों ने साधु शरीर (वेष) धारण किया है ॥ ३५ ॥

सुख देवै दुख को हरे, दूर करे अपराध।
कहैं कबीर वह कब मिलै, परम सनेही साध॥ ३६ ॥

सुख देते हैं, दुखों को हरण कर लेते हैं एवं पाप को दूर कर देते हैं। ऐसे परम प्रेमास्पद सन्तजन कब मिलेंगे!॥ ३६ ॥

जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजिये ज्ञान।
मोल करो तरवार का, पड़ा रहन दो म्यान॥ ३७ ॥

सन्तों की शारीरिक जाति मत पूछिये, उनसे ज्ञान की बातें पूछ लीजिये। तलवार का मोल-तौल करो, म्यान को पड़े रहने दो ॥ ३७ ॥

कह अकाश को फेर है, कह धरती को तोल।
कहा साधु की जाति है, कह पारस का मोल॥ ३८ ॥

आकाश की सीमा कहां है, पृथ्वी की तौल कहां, साधु की जाति कहां है, और पारस पत्थर का मूल्य कहां है! ॥ ३८ ॥

साधुन की झुपड़ी भली, ना साकट को गाँव।
चन्दन की कुटकी भली, ना बबूल बनराव॥ ३९ ॥

सन्तों की झोपड़ी अच्छी है, परन्तु साकट का ग्राम नहीं अच्छा। चन्दन का टुकड़ा अच्छा है; परन्तु बबूल का जंगल नहीं अच्छा ॥ ३९ ॥

हयवर गयवर सघन घन, छत्रपती की नारि।
तासु पटतरा ना तुले, हरिजन की पनिहारि॥ ४० ॥

बहुत-बहुत उत्तम घोड़े एवं मकान से सम्पन्न छत्रपति भूपति की महारानी हो; परन्तु वह हरिभक्तों की पनिहारिन के समान नहीं हो सकती॥ ४० ॥

क्यों नृपनारी निन्दिये, पनिहारी को मान।
वह माँग सँवारे पीवहित, नित वह सुमिरे राम॥ ४१ ॥

राजरानी की निन्दा एवं सन्तों की पनिहारिन की प्रशंसा क्यों की गयी? इसलिए कि रानी तो नित्य शृंगार करती है राजा को प्रसन्न करने के लिए और सन्त सेविका अविनाशी राम का स्मरण करती है॥ ४१ ॥

तीरथ नहाये एक फल, साधु मिले फल चार।
सतगुरु मिले अनेक फल, कहैं कबीर विचार॥ ४२ ॥

तीर्थों में स्नान करने से केवल शरीर की ही शुद्धि होती है, परन्तु सन्तों के सत्संग से अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष चारों फल मिलते हैं, किन्तु सद्गुरु के मिलने पर अनेक फलों की प्राप्ति होती है, गुरु कबीर विचारकर कहते हैं॥ ४२ ॥

साधु सिद्ध बहु अन्तरा, साधु मता परचण्ड।
सिद्ध जु तारे आपको, साधु तारि नौ खण्ड॥ ४३ ॥

सन्त और सिद्ध में बड़ा अन्तर है, तिसमें संत का मत ही अत्यन्त श्रेष्ठ है। सिद्ध[१] तो केवल अपना ही कल्याण करता है, परन्तु सन्तजन पूरे विश्व का उद्धार करते हैं॥ ४३ ॥

---

१. यहां अणिमादि-प्राप्त सिद्ध की बात नहीं है। जो स्वरूपस्थिति में परिपक्व हो वह सिद्ध है। उपदेशों-द्वारा परोपकार करने वाला साधु है।

जा सुख को मुनिवर रटैं, सुर नर करैं विलाप।
सो सुख सहजै पाइया, सन्तों संगति आप॥ ४४॥

जिस मुक्ति के असीम सुख के लिए श्रेष्ठ मुनिजन रात-दिन नाना कल्पित नाम रटते एवं सुर, नर, मुनि रुदन करते हैं, वह सुख आप सन्तों की संगत में सरल रूप से पा जायंगे॥ ४४॥

कबीर शीतल जल नहीं, हिम ना शीतल होय।
कबीर शीतल सन्त जन, राम सनेही सोय॥ ४५॥

कबीर गुरु कहते हैं कि वैसा शीतल जल नहीं होता और न बर्फ ही शीतल होती है। वास्तव में स्वरूपराम के प्रेमी सन्तजन ही शीतल होते हैं॥ ४५॥

संत मिले जनि बीछुरो, बिछुरो यह मम प्रान।
शब्द सनेही ना मिले, प्राण देह में आन॥ ४६॥

ऐ मेरे प्राण! तुम चाहे बिछुड़ जाओ, परन्तु मिले हुए विवेकी सन्तजन न बिछुड़ें। क्योंकि निर्णय वचनों के प्रेमी सन्त कौन जाने पुनः न मिलें (और कर्म-वासना शेष रहने पर) देह-धारण कर उसमें प्राण आयेगा ही॥ ४६॥

कोटि कोटि तीरथ करै, कोटि कोटि करु धाम।
जब लग साधु न सेवई, तब लग काचा काम॥ ४७॥

करोड़ों-करोड़ों तीर्थ करो और करोड़ों-करोड़ों धाम करो, परन्तु जब तक विवेकी सन्तों की सेवा न करोगे, तब तक मुक्ति का सब काम कच्चा है॥ ४७॥

आशा वासा सन्त का, ब्रह्मा लखै न वेद।
षट दर्शन खटपट करै, विरला पावै भेद॥ ४८॥

सन्तों के हृदय की उच्चस्थिति का भेद ब्रह्मा और वेद भी नहीं जानते। योगी-जंगमादि षटदर्शनी तो खटपट (प्रपंच) में पड़े हैं, विरला ही सन्तों का रहस्य जानता है॥ ४८॥

वेद थके ब्रह्मा थके, थाके सेस महेस।
गीता हूं की गम नहीं, संत किया परवेश॥ ४९॥

विवेकी सन्त ऐसी उच्च स्थिति में प्रवेश कर जाते हैं, जिसको व्यक्त (प्रकाशित) करने में वेद, ब्रह्मा, शेष, महेश सब थक गये और गीता भी पता नहीं पायी॥ ४९॥

साधू ऐसा चाहिये, दुखै दुखावै नाहिं।
पान फूल छेड़े नहीं, बसै बगीचा माहिं॥ ५०॥

जैसे कोई बगीचा में रहकर भी पत्ते-फूल न तोड़े, वैसे साधु को अपनी ऐसी रहनी वनानी चाहिए कि वह दूसरे की उलटी क्रिया एवं दुर्वचन से न स्वयं दुखित हो और न दूसरे को किंचिन्मात्र दुखी करे॥ ५०॥

साधू जन सब में रमैं, दुःख न काहू देहि।
अपने मत गाढ़ा रहै, साधुन का मत येहि॥ ५१॥

उत्तम-मध्यम सभी लोगों में सन्तजन विचरण करते हैं; परन्तु किसी प्रकार भी किसी को दुख नहीं देते। अपने सिद्धान्त में वे दृढ़ रहते हैं, यही सन्तों का मत है॥ ५१॥

साधू भौंरा जग कली, निशि दिन फिरै उदास।
टुक टुक तहाँ विलम्बिया, जहँ शीतल शब्द निवास॥ ५२॥

जगत रूपी कली-फूलों में सन्त रूपी भंवरे उदास होकर विचरते हैं (उसमें मोहते नहीं)। थोड़ा-थोड़ा वे वहीं प्रेम करते हैं, जहां शीतल निर्णय शब्दों की चर्चा है॥ ५२॥

साधु कहावन कठिन है, ज्यों खाड़े की धार।
डगमगाय तो गिर पड़े, निहचल उतरे पार॥ ५३॥

सन्त कहलाना कठिन है, जैसे तलवार की धार पर चलना। जो आचरण से डगमगायेगा वह अवश्य सन्त-पद से गिर पड़ेगा; जो निश्चल होगा, वही पार जायेगा॥ ५३॥

साधु कहावन कठिन है, लम्बी पेड़ खजूर।
चढ़े तो चाखै प्रेमरस, गिरै तो चकनाचूर॥ ५४॥

लम्बे खजूर के पेड़ पर चढ़ने के समान सच्चा सन्त होना कठिन है। यदि सन्त-रहस्य रूपी वृक्ष पर चढ़ गया, तो स्व-प्रेमामृत चखता है, और यदि गिर पड़ा, तो नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है॥ ५४॥

साधू चाल जु चालई, साधु कहावै सोय।
बिन साधन तो सुधि नहिं, साधु कहां ते होय॥ ५५॥

सुन्दर आचरण करे, वही साधु कहला सकता है। वि॥ मन-इन्द्रियों के साधे तो अपने आपका ध्यान ही नहीं रहता, फिर वह साधु कहां से हो जायेगा! ॥५५॥

साधू सोई जानिये, चलै साधु की चाल।
परमारथ राता रहै, बोलै वचन रसाल॥५६॥

सन्त उसी को जानो, जो सन्तों के उच्च आचरणों में चले। निरन्तर परमार्थ में लीन रहे और मीठा वचन बोले॥५६॥

साधु सती और सूरमा, राखा रहै न ओट।
माथा बाँधि पताक सों, नेजा घालैं चोट॥५७॥

सन्त, सती और शूरवीर—ये किसी के रखने से परदे में नहीं रहते। इनकी आचरण रूपी ध्वजा इनके मस्तक के साथ रहती है; चाहे कोई भाला की चोट मारे (ये तीनों अपने सिद्धांत नहीं छोड़ते, मस्तक भले कट जाय)॥५७॥

साधु सती औ सिंह को, ज्यों लंघन त्यौं शोभ।
सिंह न मारे मेढका, साधु न बाँधै लोभ॥५८॥

साधु, सती और सिंह का जितना ही उपवास हो जाय, शोभा है। अपने आहार के लिए सिंह मेढ़क नहीं मारेगा और न संत लोभ बांधकर बहुत धन संग्रह करेंगे॥५८॥

साधु साधु सब एक हैं, जस अफीम का खेत।
कोई विवेकी लाल हैं, और सेत का सेत॥५९॥

सभी साधु एक समान हैं, जैसे अन्य खेत के समान अफीम का खेत। कोई सन्त तो विवेकी रत्न तुल्य हैं, अन्य सब सफेद कांचवत वेषधारी विशेष हैं॥५९॥

साधू तो हीरा भया, ना फूटै घन खाय।
नं वह विनसै कुम्भ ज्यों, ना वह आवै जाय॥६०॥

घन की चोट से जैसे हीरा नहीं फूटता, वैसे संत जन प्रतिकूलता से नहीं घबराते। वे कच्चे घड़े के समान थोड़ी ही चोट से नहीं फूट जाते, ऐसे सन्त ही जन्म-मरण से मुक्त हो जाते हैं॥६०॥

साधु साधु सबहीं बड़े, अपनी अपनी ठौर।
शब्द विवेकी पारखी, ते माथे के मौर॥६१॥

यों अपने-अपने स्थान पर सभी सन्त बड़े हैं, परन्तु जो सार-असार शब्दों के विवेकी और पारखी संत हैं, वे सबके सिरमुकुट हैं॥ ६१॥

साधू ऐसा चाहिये, जाके ज्ञान विवेक।
बाहर मिलते सों मिलैं, अन्तर सबसों एक॥ ६२॥

साधु को ज्ञान-विवेक के संयुक्त होना चाहिए। बाहर से मिलने वाले के योग्यतानुसार ही उनसे मिले, परन्तु भीतर से सबको सजाति-मित्र जाने॥ ६२॥

सदा कृपालु दुख परिहरन, बैर भाव नहिं दोय।
छिमा ज्ञान सत भाखही, हिंसा रहित जु होय॥ ६३॥

संतजन सदैव कृपालु, दुखहरता, वैर-मोह दोनों के त्यागी, क्षमा, स्वरूपज्ञान, सत्य-भाषण के धारण करने वाले तथा हिंसा के त्यागी होते हैं॥ ६३॥

दुख सुख एक समान है, हरष शोक नहिं व्याप।
उपकारी निहकामता, उपजै छोह न ताप॥ ६४॥

संतजन सुख-दुख को एक समान मानते, उनके मन में हर्ष-शोक नहीं व्यापते। वे परोपकारी तथा निष्कामी होते हैं, उनके मन में ममता और सन्ताप नहीं उत्पन्न होते॥ ६४॥

सदा रहे सन्तोष में, धरम आप दृढ़ धार।
आश एक गुरुदेव की, और न चित्त विचार॥ ६५॥

वे सदैव सन्तोषवृत्ति में रहते हैं, सर्व धर्माचरणों को वे स्वयं दृढ़ता से धारण करते हैं। वे एक सद्गुरुदेव की आशा रखते हैं, अन्यभाव मन में नहीं लाते॥ ६५॥

सावधान औ शीलता, सदा प्रफुल्लित गात।
निर्विकार गम्भीर मत, धीरज दया बसात॥ ६६॥

सन्तजन मन-इन्द्रियों से सदैव सावधान, शीलवान, सर्वदा शरीर से प्रफुल्लित, विकार-रहित, निश्चलमति तथा धैर्य और दया को हृदय में बसाने वाले होते हैं॥ ६६॥

निर्बैरी निहकामता, स्वामी सेती नेह।
विषया सो न्यारा रहे, साधुन का मत येह॥ ६७॥

सबसे वैर-रहित रहना, जगत-कामना का त्यागी रहना, गुरु स्वामी से प्रेम रखना और विषयों से पृथक रहना—यही सन्तों का मत है॥ ६७॥

मानपमान न चित धरैं, औरन को सनमान।
जो कोई आशा करै, उपदेशै तेहि ज्ञान॥ ६८॥

सन्तजन दूसरे द्वारा प्राप्त हुए अपने मान-अपमान पर ध्यान नहीं देते, दूसरे का आदर करते हैं। जो कोई सुनने की जिज्ञासा रखता है, उसको ज्ञानोपदेश करते हैं॥ ६८॥

शीलवन्त दृढ़ ज्ञान मत, अति उदार चित होय।
लज्जावान अति निछलता, कोमल हिरदा सोय॥ ६९॥

शीलवान रहना, स्वरूपज्ञान में दृढ़ रहना, अत्यन्त उदार चित होना, बुरे कर्मों से लज्जा करना, अत्यन्त निष्छल होना, हृदय का कोमल होना—ये सब सन्तों के लक्षण हैं॥ ६९॥

इन्द्रिन मन निग्रह करन, हिरदा कोमल होय।
सदा शुद्ध आचरण में, रह विचार में सोय॥ ७०॥

इन्द्रिय-मन का निग्रह करना, मन कोमल होना, सदैव शुद्ध आचरण और विचार में रहना—सन्त लक्षण हैं॥ ७०॥

और देव नहिं चित बसै, मन गुरु चरण बसाय।
स्वल्पाहार भोजन करु, तृष्णा दूर पराय॥ ७१॥

अन्य कल्पित देवी-देवताओं की मन में कल्पना न रखे, अपने मन को गुरु के चरणों में ही बसावे, अल्पाहारी और तृष्णा-त्यागी रहे॥ ७१॥

जौन चाल संसार की, तौन साधु की नाहिं।
डिंभ चाल करनी करे, साधु कहो मत ताहि॥ ७२॥

जो आचरण संसार का है, वह आचरण साधु का नहीं होता। जो अपने आचरण एवं करनी में दम्भ (बाहर कुछ, भीतर कुछ) रखता है, उसको कोई साधु मत कहो॥ ७२॥

कोई आवै भाव लै, कोई अभाव लै आव।
साधु दोऊ को पोषते, भाव न गिनै अभाव॥ ७३॥

कोई भाव लेकर आता है, कोई अभाव लेकर आता है। सन्तजन दोनों का पोषण करते हैं, वे न किसी के प्रेम में आसक्त होते हैं और न किसी के अभाव में द्वेष करते हैं॥ ७३॥

रक्त छाड़ि पय को गहै,ज्यों रे गऊ का बच्छ।
अवगुण छाड़ै गुण गहै, ऐसा साधू लच्छ॥ ७४॥

जैसे गऊ का बछड़ा रक्त त्यागकर दूध को ही पीता है, वैसे ही साधु का लक्षण होता है, वे दुर्गुणों को त्यागकर केवल सद्गुण ग्रहण करते हैं॥ ७४॥

सन्त न छाड़ै सन्तता, कोटिक मिलै असन्त।
मलय भुवंगम बेधिया, शीतलता न तजन्त॥ ७५॥

करोड़ों दुष्टों के मिलने पर भी संतजन अपनी साधुता नहीं त्यागते। चन्दन के पेड़ में अनेकों सर्प लिपटे रहते हैं; परन्तु चन्दन अपनी शीतलता नहीं त्यागता॥ ७५॥

कमल पत्र हैं साधु जन, बसैं जगत के माहिं।
बालक केरी थाय ज्यों, अपना जानत नाहिं॥ ७६॥

जगत समुद्र के बीच में बसकर भी सन्तजन कमल-पत्र वत निर्लिप्त रहते हैं! जैसे बच्चे को दूध पिलाने वाली दाई, बच्चे को अपना मानकर ममता नहीं करती, वैसे सन्त जन किसी में ममता नहीं करते॥ ७६॥

यहां कमल पत्रवत निर्लिप्त का भाव यह नहीं है कि कोई मैथुन, नशा, नाच-रंगादि का सेवन करके भी निर्लिप्त रहता है। यह मान्यता तो बहुत ही पतनकारी है। मैथुनादि तो मनःकल्पित भोग हैं। इनका सेवन विवेकवान कदापि नहीं करते। भाव यह कि प्रारब्ध-व्यवहार बरतते हुए भी वे कहीं फंसते नहीं।

बहता पानी निरमला, बन्दा गन्दा होय।
साधू जन रमता भला, दाग न लागै कोय॥ ७७॥

बहता हुआ जल निर्मल होता है, और बंधा हुआ जल गन्दा होता है। इसी प्रकार सन्तजन का विवेकपूर्वक विचरण करना अच्छा है, इससे कोई दोष नहीं लगता॥ ७७॥

बंधा पानी निरमला, जो टुक गहिरा होय।
साधू जन बैठा भला, जो कुछ साधन होय॥ ७८॥

बंधा हुआ जल भी निर्मल होता है, यदि थोड़ा गहरा हो तो। इसी प्रकार सन्तों का एक स्थान पर बैठना भी अच्छा है, यदि उनमें कुछ साधना की गहराई हो॥ ७८॥

ढोल दमामा गड़फड़ी, सहनाई औ तूर।
तीनों निकसि न बाहुरें, साधु सती औ सूर॥ ७९॥
तूटै वरत अकाश सों, कौन सकत है झेल।
साधु सती और सूर का, अनी ऊपर का खेल॥ ८०॥

ढोल, डुग्गी, नगाड़ा, शहनाई एवं तुरही—इनसे निकले हुए शब्द जैसे वापस नहीं होते, वैसे साधु, सती और वीर अपने रणस्थल में निकलकर नहीं लौटते॥ ७९॥ नट के बांस की रस्सी आकाश से टूट जाने पर उसे कौन रोकेगा! इसी प्रकार साधु, सती और शूरवीर का खेल बरछे की नोक पर है॥ ८०॥

उड़गण और सुधाकरा, बसत नीर के संग।
यों साधू संसार में, कबीर पड़त न फंद॥ ८१॥

तारे एवं चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब पानी में रहते हैं; परन्तु मछलियों के साथ जाल में तारे-चन्द्र नहीं फंसते, इसी प्रकार संसार में रहते हुए भी साधु माया में नहीं फंसते॥ ८१॥

जौन भाव ऊपर रहै, भितर बसावै सोय।
भीतर और न बसावई, ऊपर और न होय॥ ८२॥

जो ज्ञान-विचार की बातें ऊपर मुख से कही जाती हैं, वैसे ही हृदय में जब भाव रखे (तभी कल्याण है)। भीतर कुछ और बाहर कुछ और भाव नहीं होना चाहिए॥ ८२॥

तन में शीतल शब्द है, बोले वचन रसाल।
कहैं कबीर ता साधु को, गंजि सकै न काल॥ ८३॥

मुख में शीतल शब्द की विशेषता है, अतः सदैव मीठे वचन बोले। वचनों के निर्णयी सन्त का कल्पनाएं कुछ बिगाड़ नहीं सकतीं। (क्योंकि वे कल्पनाओं में पड़ते ही नहीं)॥ ८३॥

सब वन तो चन्दन नहीं, शूरा के दल नाहिं।
सब समुद्र मोती नहीं, यों साधू जग माहिं॥ ८४॥

सारा वन चन्दन नहीं होता, शूरवीरों के दल नहीं होते। पूरे समुद्र में मोती नहीं भरे रहते, इसी प्रकार जगत में पूरे तत्त्वदर्शी जीवन्मुक्त संत भी विरले-विरले होते हैं॥ ८४॥

कबीर मेरा कोइ नहीं, हम काहू के नाहिं।
पारै पहुंची नाँव ज्यों, मिलि कै बिछुरी जाहिं॥ ८५॥

न कोई मेरा है न हम किसी के हैं। जैसे नदी के पार नावका पहुंच जाने पर मिले हुए सब यात्री बिछुड़ जाते हैं, वैसे एक दिन सबसे बिछुड़ना हो जायेगा॥ ८५॥

आज काल के लोग हैं, मिलि कै बिछुरी जाहिं।
लाहा कारण आपने, सोगंद राम कि खाहिं॥ ८६॥

वर्तमान के जितने सगे-मित्र मिले हैं, सब एक दिन बिछुड़ जायंगे, परन्तु अज्ञान-वश दो दिन के क्षणिक जीवन में लोग अपने लाभ के लिए राम की सौगन्ध खाते हैं॥ ८६॥

जूवा चोरी मुखबिरी, ब्याज बिरानी नारि।
जो चाहै दीदार को, इतनी वस्तु निवारि॥ ८७॥

जुआ खेलना, चोरी और जासूसी करना, ब्याज लेना, परायी स्त्री से प्रेम करना—यदि स्वरूप साक्षात्कार चाहे तो इतनी बात निकाल दे॥ ८७॥

सन्त समागम परम सुख, जान अल्प सुख और।
मानसरोवर हंस हैं, बगुला ठौरे ठौर॥ ८८॥

सन्तों का समागम परम सुख रूप है, अन्य सर्व सुख अल्प है। हंस तो मानसरोवर में ही मिलता है और बगुला जगह-जगह दिखते हैं॥ ८८॥

सन्त मिले सुख ऊपजै, दुष्ट मिले दुख होय।
सेवा कीजै सन्त की, जन्म कृतारथ होय॥ ८९॥

सन्तों के मिलने पर सुख और दुष्टों के मिलने पर दुख होता है, अतएव सन्तों की सेवा करो, इससे तुम्हारा जन्म कृतार्थ हो जायेगा॥ ८९॥

संगत कीजै साधु की, कभी न निष्फल होय।
लोहा पारस परस ते, सो भी कंचन होय॥ ९०॥

सन्तों की संगत करो, वह कभी निष्फल नहीं जाती। देखो! पारस-पत्थर के स्पर्श से लोहा भी सोना हो जाता है (यह केवल दृष्टांत है)॥ ९०॥

सो दिन गया अकारथे, संगत भई न सन्त।
ज्ञान बिना पशु जीवना, भक्ति बिना भटकन्त॥ ९१॥

वह दिन व्यर्थ गया जिस दिन सन्तों की संगत नहीं हुई। ज्ञान के विना जीवन पशुतुल्य है और भक्ति के बिना केवल संसार में भटकना है॥ ९१॥

दया गरीवी बन्दगी, समता शील सुभाव।
येते लक्षण साधु के, कहैं कबीर सतभाव॥ ९२॥

गुरु कबीर कहते हैं कि दया, गरीवी, सेवा, समता, शील स्वभाव एवं सत्य में प्रेम—इतने सन्त के लक्षण हैं॥ ९२॥

मान नहीं अपमान नहीं, ऐसे शीतल सन्त।
भवसागर से पार हैं, तोरे जम के दन्त॥ ९३॥

सन्त ऐसे शीतल होते हैं कि उनके मन में मान-अपमान का प्रभाव नहीं होता। ऐसे सन्त वासना की जड़ उखाड़कर संसार से मुक्त हो गये हैं॥ ९३॥

आशा तजि माया तजै, मोह तजै अरु मान।
हरष शोक निन्दा तजै, कहैं कबीर सन्त जान॥ ९४॥

गुरु कबीर कहते हैं कि सन्त उन्हीं को जानो जिन्होंने आशा, माया, मोह, मान, हर्ष-शोक और पर-निन्दा त्याग दिये हैं॥ ९४॥

आसन तो इकान्त करैं, कामिनी संगत दूर।
शीतल संत शिरोमनी, उनका ऐसा नूर॥ ९५॥

आसन एकान्त में करते हैं, स्त्री की संगत से दूर रहते हैं। ऐसे शीतल सन्तों का ऐसा प्रकाश होता है कि वे सबके शिरोमणि होते हैं॥ ९५॥

यह कलियुग आयो अबै, साधु न मानै कोय।
कामी क्रोधी मस्खरा, तिनकी पूजा होय॥ ९६॥

आजकल पापाचरण अधिक बढ़ गया है, सच्चे साधु को प्रायः कोई नहीं मानता। जो कामी, क्रोधी और मस्खरा (बात बनाने में चतुर) हैं उसी की पूजा होती है॥ ९६॥

साधु दरश को जाइये, जेता धरिये पाँय।
डग डग पै असमेध जग, कहैं कबीर समुझाय॥ ९७॥

गुरु कबीर समझाकर कहते हैं कि सन्तों के दर्शन के लिए जब जाइये और जितने पांव रखिये, पद-पद पर अश्वमेध यज्ञ का फल है॥ ९७॥

साधू दरशन महाफल, कोटि यज्ञ फल लेह।
इक मन्दिर को का पड़ी, नगर शुद्ध करि लेह॥ ९८॥

सन्तों के दर्शन का फल महान है, करोड़ों यज्ञों का फल प्राप्त होता है। एक मन्दिर की बात कौन चलावे, सन्तों के प्रभाव से शहर पवित्र हो जाता है॥ ९८॥

कुलवंता कोटिक मिले, पण्डित कोटि पचीस।
सुपच भक्त की पनहि में, तुलै न काहू शीश॥ ९९॥

यदि उत्तम कुल वाले करोड़ों मिलें, और विद्वान पचीस करोड़ मिलें, भक्त चाहे भंगी हो, परन्तु उसके पैर की जूती में किसी का सिर नहीं तुल सकता॥ ९९॥

साधू ऐसा चाहिये, जहाँ रहै तहँ गैब।
बानी के विस्तार में, ताकूँ कोटिक ऐब॥ १००॥

साधु को ऐसा चाहिए कि जहां रहे, वहां तड़क-भड़क एवं बाहरी दिखावा-रहित समभाव से रहे, क्योंकि (सावधान न रहे तो) वक्तव्य के अधिक विस्तार में उसको करोड़ों दोष लग सकते हैं॥ १००॥

सन्त मता गजराज का, चालै बन्धन छोड़।
जग कुत्ता पीछे फिरैं, सुनै न वाको सोर॥ १०१॥

सन्तों का मत मस्ताना हाथी का है, वे सब बन्धनों को छोड़कर चल पड़ते हैं। संसारी कुत्ते पीछे पड़े भूकते रहें, वे उनके शोर-गुल को नहीं सुनते॥ १०१॥

आज काल दिन पाँच में, बरस पाँच जुग पंच।
जब तब साधू तारसी, और सकल परपंच॥ १०२॥

आज या कल में, पांच दिन में, पांच वर्ष में तथा पांच युग में, जब कभी हो, संसार-सागर से सन्त ही उद्धार करेंगे, अन्य दैव-गोसैंया तो मन-वाणी के प्रपंच हैं॥ १०२॥

साधू ऐसा चाहिये, जाका पूरा मंग।
विपति पड़े छाड़ै नहीं, चढ़ै चौगुना रंग॥ १०३॥

साधु ऐसा चाहिए जिसका मन पूर्ण सन्तुष्ट हो, आपत्ति पड़ने पर सन्मार्ग न त्याग करे, बल्कि चौगुना अधिक सत्य का रंग चढ़ जाय॥ १०३॥

हेत बिना आवै नहीं, हेत तहाँ चलि जाय।
कबीर जल औ सन्तजन, नवैं तहाँ ठहराय॥ १०४॥

प्रेम के बिना सन्त नहीं आते, जहां प्रेम रहता है, वहां चले जाते हैं। गुरु कबीर कहते हैं कि जल और सन्तजन जहां नम्रता (गहराई) होती है, वहीं ठहरते हैं॥ १०४॥

सन्त होत हैं हेत के, हेतु तहाँ चलि जाय।
कहैं कबीर वे हेत बिन, गरज कहां पतियाय॥ १०५॥

सन्त प्रेम के वश होते हैं, अतः जहां पर लोगों का प्रेम रहता है, वहां चले जाते हैं। गुरु कबीर कहते हैं कि प्रेम के बिना किसी के ऊपर विश्वास करने का उनका क्या प्रयोजन है! अथवा हार्दिक प्रेमरहित केवल स्वार्थी पर वे कब विश्वास करने लगे! ॥ १०५॥

सन्त सेव गुरु बन्दगी, गुरु सुमिरन वैराग।
येता तबहीं पाइये, पूरन मस्तक भाग॥ १०६॥

सन्तों की सेवा, गुरु की बन्दगी, गुरु पद (स्वस्वरूप) का स्मरण और वैराग्य—इतने सब तभी मिलेंगे, जब मस्तक के पूर्ण भाग्य (पुरुषार्थ द्वारा) उदित होंगे॥ १०६॥ २१७॥

७

भेष को अंग

(इस प्रसंग में कपटी साधु-वेषधारियों की निन्दा और वैराग्यपूर्ण साधु-वेषधारियों की प्रशंसा की गयी है।)

चाल बकुल की चलत हैं, बहुरि कहावै हंस।
ते मुक्ता कैसे चुँगे, पड़े काल के फंस॥ १॥

जो बकुले के आचरण में चलकर, पुनः हंस कहलाते हैं, वे ज्ञान-मोती कैसे चुगेंगे, वे तो कल्पना-काल में पड़े हैं॥ १॥

साधु भया तो क्या भया, माला पहिरी चार।
बाहर भेष बनाइया, भीतर भरी भंगार॥ २॥

गले-हाथ इत्यादि में चार मालाएं पहनकर साधु-वेप धर लिये तो क्या हो गया, बाहर तो उत्तम वेप बना लिया और भीतर भंगार भरी है॥ २॥

बाना पहिरे सिंह का, चलै भेड़ की चाल।
बोली बोले सियार की, कुत्ता खावै फाल॥ ३॥

सिंह का वेष पहनकर जो भेड़ की चाल चलता तथा सियार की बोली बोलता है, उसे कुत्ता अवश्य फाड़ खायेगा॥ ३॥

तन को जोगी सब करै, मन को करै न कोय।
सहजै सब सिधि पाइये, जो मन जोगी होय॥ ४॥

सब लोग वेप पहनकर शरीर को योगी बनाते हैं, मन को कोई बिरला ही योगी बनाता है, यदि मन योगी हो जाय, तो सहज ही कल्याण की सिद्धि हो जाय॥ ४॥

जो मानुष गृह धर्म युत, राखै शील विचार।
गुरुमुख बानी साधु संग, मन बच सेवा सार॥ ५॥

जो मनुष्य गृहस्थी धर्म के संयुक्त है, वह शील तथा विचार रखता, गुरुमुख वाणियों का विवेक करता, साधु संग करता और मन, वचन, कर्म से सेवा करता है, उसी को जीवन का लाभ मिलता है ॥ ५ ॥

गिरही सेवै साधु को, भाव भक्ति आनन्द।
कहँ कबीर बैरागी को, निरबानी निरदुन्द ॥ ६ ॥

गृहस्थ का धर्म है कि साधु की सेवा करे, सदैव प्रेम-भक्ति में आनन्दमग्न रहे। गुरु कबीर कहते हैं कि विरक्त संत का धर्म है कि वह विवाद-रहित निर्बन्ध एवं हर्ष-शोक से रहित निर्द्वन्द्व रहे ॥ ६ ॥

शब्द विचारे पथ चलै, ज्ञान गली दे पाँव।
क्या रमता क्या बैठता, क्या गृह कँदला छाँव ॥ ७ ॥

निर्णय शब्द का विचार करे, ज्ञान मार्ग में पांव रखकर सत्पथ में चले, फिर चाहे रमता रहे, चाहे बैठा रहे, चाहे आश्रम में रहे, चाहे गिरि-कन्दरा में रहे और चाहे वृक्ष की छाया में रहे—उसका कल्याण है ॥ ७ ॥

पाँच सात सुमता भरी, गुरु सेवा चित लाय।
तब गुरु आज्ञा लेय के, रहे देशान्तर जाय ॥ ८ ॥

कम-से-कम पांच-सात (ग्यारह) वर्ष तक सुबुद्धिपूर्वक गुरु की सेवा में मन दे। फिर (परिपक्व ज्ञान-आचरण हो जाने पर) गुरु से आज्ञा लेकर देश-देशान्तर भ्रमण करने जाय ॥ ८ ॥

गुरु के सनमुख जो रहै, सहै कसौटी दूख।
कहँ कबीर ता दुख पर, वारों कोटिक सूख ॥ ९ ॥

विवेक-वैराग्य-सम्पन्न सद्गुरु के सम्मुख रहकर जो उनकी कसौटी और सेवा करने तथा आज्ञा-पालन करने का कष्ट सहता है, उस कष्ट पर करोड़ों सुख न्योछावर हैं ॥ ९ ॥

मन मैला तन ऊजरा, बगुला कपटी अंग।
तासों तो कौवा भला, तन मन एकहि अंग ॥ १० ॥

जो बगुला के समान कपट शरीर वाला तन (वेष) का उजला, तथा मन का मैला है, उससे अच्छा तो कौआ है, जो तन-मन दोनों से काला है (किसी को छलता तो नहीं) ॥ १० ॥

कवि तो कोटिक कोटि हैं, सिर के मूड़े कोट।
मन के मूड़े देखि करि, ता संग लीजै ओट॥ ११॥

कविता करने वाले तो करोड़ों-करोड़ों हैं, और सिर मुड़ाकर घूमने वाले वेष-धारी भी करोड़ों हैं, परन्तु ऐ जिज्ञासु! जिसने अपने मन को मूड़ लिया है, ऐसा विवेकी सद्गुरु देखकर तू उनकी शरण ले॥ ११॥

भेष देख मत भूलिये, बूझि लीजिये ज्ञान।
बिना कसौटी होत नहिं, कंचन की पहिचान॥ १२॥

केवल उत्तम साधु-वेष देखकर मत भूल जाओ, उनसे ज्ञान की बातें पूछो। बिना कसौटी के सोने की परख नहीं होती ॥ १२॥

फाली फूली गाड़री, ओढ़ि सिंह की खाल।
साँच सिंह जब आ मिले, गाड़र कौन हवाल॥ १३॥

भेड़ सिंह की खाल ओढ़कर अभिमान में फूली-फूली फिरती है; परन्तु उसे जब सच्चा सिंह आकर कहीं मिल जायगा, तो उसकी क्या दशा होगी!॥ १३॥

भाव—पाखण्डी साधु-वेष पहनकर फूले-फूले फिरते हैं, परन्तु वे सच्चे सन्तों के मिल जाने पर दुम दबाकर भागते हैं।

बोली ठोली मस्खरी, हँसी खेल हराम।
मद माया औ इस्तरी, नहिं सन्तन के काम॥ १४॥

बोली-ठोली, मस्खरी, हंसी, खेल, मद, माया एवं स्त्री-संगत—ये सन्तों को त्यागने योग्य हैं॥ १४॥

बैरागी बिरकत भला, गिरही चित्त उदार।
दोऊ चूकि खाली पड़े, ताको वार न पार॥ १५॥

साधु में विरक्तता और गृहस्थ में उदारतापूर्वक सेवा उत्तम है। यदि दोनों अपने-अपने गुणों से चूक गये, तो वे छूंछे रह जाते हैं, फिर दोनों का उद्धार नहीं है॥ १५॥

घर में रहै तो भक्ति करु, नातरु करु बैराग।
बैरागी बन्धन करै, ताका बड़ा अभाग॥ १६॥

घर में रहे तो साधु-गुरु की भक्ति करनी चाहिए, अन्यथा घर त्यागकर वैराग्य

करना चाहिए। यदि विरक्त पुनः बन्धनों का काम करे, तो उसका महान दुर्भाग्य है॥ १६॥

धारा तो दोनों भली, गिरही कै बैराग।
गिरही दासातन करे, बैरागी अनुराग॥ १७॥

धाराएं तो दोनों अच्छी हैं, क्या गृहस्थी क्या वैराग्याश्रम। गृहस्थ को सन्त-गुरु की सेवकाई करनी चाहिए और विरक्त को वैराग्यनिष्ठ होना चाहिए॥ १७॥ २३४॥

८

भीख को अंग

(इस प्रसंग में गृहस्थ को भिक्षा मांगना बुरा कहा गया है। विरक्त साधु भी वही उत्तम है, जो बिना मांगे ही स्वाभाविक मिले पदार्थों से तृप्त रहे; परन्तु यदि पेट-पूर्ति मात्र के लिए मांग ले, तो कोई हानि नहीं। किन्तु किसी के द्वार पर जाकर एवं अड़ंगा डालकर हठपूर्वक मांगने वाला अधम है। उसकी मोक्ष साधना नहीं होगी)

माँगन मरण समान है, तोहि दई मैं सीख।
कहैं कबीर समझाय के, मति कोइ माँगै भीख॥ १॥

मांगना मरने के तुल्य है, गुरु कबीर समझाकर कहते हैं कि मैं तुम्हें शिक्षा देता हूं, कोई भिक्षा मत मांगो॥ १॥

माँगन गै सो मर रहै, मरै जु माँगन जाहिं।
तिनते पहिले वे मरे, होत करत हैं नाहिं॥ २॥

जो किसी के यहां मांगने गया वह जानो मर गया। उससे पहले वह मर गया जिसने होते हुए 'नहीं' कर दिया॥ २॥

उदर समाता माँगि ले, ताको नाहीं दोय।
कहैं कबीर अधिका गहै, ताकी गति ना मोय॥ ३॥

यदि साधु पेट-पूर्ति मात्र के लिए मांग ले तो उसको दोष नहीं है। परन्तु जो संग्रह के लिए लालच करता है, उसकी मोक्ष-साधना बनना कठिन है॥ ३॥

अजहूँ तेरा सब मिटैं, जो मानै गुरु सीख।
जब लग तू घर में रहे, मति कहुँ माँगे भीख॥ ४॥

आज भी तेरे सब दोष-दुख मिट जायं, यदि तू सद्गुरु की शिक्षा पर कान दे। जब तक तू गृहस्थी में है, कहीं भिक्षा मत मांग॥ ४॥

उदर समाता अन्न ले, तनहिं समाता चीर।
अधिकहिं संग्रह ना करै, तिसका नाम फकीर॥ ५॥

पेट-पूर्ति मात्र भोजन लेवे, शरीर-निर्वाह मात्र वस्त्रादि तथा जीवनोपयोगी वस्तु लेवे। निर्वाह के अतिरिक्त संग्रह न करे, उसी को विरक्त कहा जाता है ॥ ५ ॥

अनमाँगा तो अति भला, माँगि लिया नहिं दोष।
उदर समाता माँगि ले, निश्चै पावै मोष ॥ ६ ॥

बिना मांगे मिला हुआ सर्वोत्तम है; यदि पेट के लिए मांग लिया तो भी साधु को दोष नहीं है। पेट-पूर्ति के लिए मांग लेने में मोक्ष साधना में निश्चय ही कोई बाधा नहीं पड़ेगी ॥ ६ ॥

अनमाँगा उत्तम कहा, मध्यम माँगि जो लेय।
कहैं कबीर निकृष्टि सो, पर घर धरना देय ॥ ७ ॥

उपर्युक्त बिना मांगे मिला हुआ उत्तम कहा, मांग लेना मध्यम कहा और पराये द्वार पर धरना देकर हठपूर्वक मांगना तो महा पाप है ॥ ७ ॥

सहज मिलै सो दूध है, माँगि मिलै सो पानि।
कहैं कबीर वह रक्त है, जामें ऐंचातानि ॥ ८ ॥

बिना मांगे सहज रूप से मिल जाय, वह दूध के समान उत्तम है, और मांगने पर मिले, वह पानी के समान मध्यम है। गुरु कबीर कहते हैं कि जिसमें ऐंचातान (अड़ंगा डालकर मांगना और कष्टपूर्वक देना होता) है, वह रक्त के समान त्यागने योग्य है ॥ ८ ॥

आब गया आदर गया, नैनन गया सनेह।
यह तीनों तबही गये, जबहिं कहा कछु देह ॥ ९ ॥

मर्यादा चली गयी, सत्कार चला गया, नेत्रों से स्नेह भी चला गया, ये तीनों तभी चले गये, जब कहा—"कुछ दीजिये!" ॥ ९ ॥ ॥ २४३ ॥

'मांगने वाला तूल से भी हल्का हो जाता है। तूल को वायु उड़ा ले जाता है, परन्तु मांगने वाले को वायु इस भय से उड़ाने नहीं आता कि वह मुझसे भी कुछ मांगने न लगे'।

(नीति वचन)

यह बात विरक्त पुरुषों के भोजन मांगने के विषय में नहीं है।

९

संगति को अंग

(इस प्रसंग में यह बताया गया है कि साधु-सन्तों की संगत करने से मनुष्य का परम कल्याण है और बुरों की संगत से पतन है। अतः सदैव उत्तम संगत करनी चाहिए।)

कबीर संगत साधु की, नित प्रति कीजै जाय।
दुरमति दूर बहावसी, देशी सुमति बताय॥ १॥

गुरु कबीर कहते हैं कि नित्यप्रति जाकर सन्तों की संगत करो। इससे तुम्हारी दुर्बुद्धि दूर हो जायगी और संत सुबुद्धि बतला देंगे॥ १॥

कबीर संगति साधु की, कभी न निष्फल जाय।
जो पै बोवै भूनिके, फूलै फूलै अघाय॥ २॥

सन्तों की संगत कभी निष्फल नहीं जाती, यदि भूनकर बीज बोवे, तो भी खेती अधिक फूलती-फलती है और अघाकर फल खाने को मिलता है ॥ २॥

भाव—सन्तों को जो कुछ खिलाया जाता है भून या पकाकर ही, परन्तु इस पुण्य के फल में जीव के लोक-परलोक दोनों बनते हैं। सेवा-भक्ति दान रूपी खेती कभी निष्फल नहीं होती। इसमें सूखा-दाहा नहीं पड़ता।

कबीर संगत साधु की, जौ की भूसी खाय।
खीर खाड़ भोजन मिलै, साकट संग न जाय॥ ३॥

सन्तों की संगत में जौ की भूसी खाना अच्छा है। खीर और मिष्ठान्न आदि का भोजन मिले, तो भी साकट के संग में नहीं जाना चाहिए॥ ३॥

कबीर संगत साधु की, ज्यों गंधी की बास।
जो कुछ गंधी दे नहीं, तो भी बास सुबास॥ ४॥

सन्तों की संगत इतर बेचने वाले की संगत के समान है। इतर बेचने वाला चाहे कुछ न दे, तो भी उसके पास जाने पर सुगन्धी मिलती है (इसी प्रकार सन्त

चाहे कुछ न बोलें, परन्तु उनके पास जाकर उनके दर्शन-स्मरण मात्र से मन पवित्र होता है) ॥ ४॥

कबीर संगति साधु की, निष्फल कभी न होय।
होसी चन्दन वासना, नीम न कहसी कोय॥ ५॥

सन्तों की संगत कभी निष्फल नहीं होती। मलयगिर की सुगंधी उड़कर लगने से नीम भी चन्दन हो जाता है, फिर उसे कभी कोई नीम नहीं कहता ॥ ५॥

कबीर संगति साधु की, जो करि जाने कोय।
सकल बिरछ चन्दन भये, बाँस न चन्दन होय॥ ६॥

सन्तों की संगत जो करता है, वही उनके गुण को जानता है। मलयगिर की सुगन्धी लगने से ढाक-पलास आदि सम्पूर्ण रसीले वृक्ष तो चन्दन हो गये, परन्तु बड़ा होने पर भी कठोर, निरस, पोला होने के कारण बांस चन्दन नहीं होता॥ ६॥

भाव—विनम्र-भक्तिमान तो सत्संग से सुधर जाते हैं, परन्तु वर्ण-विद्या आदि में श्रेष्ठ होने पर भी अभिमानी नहीं सुधरते।

एक घड़ी आधी घड़ी, आधी में पुनि आध।
कबीर संगत साधु की, कटै कोटि अपराध॥ ७॥

एक घड़ी, आधी घड़ी तथा चौथाई घड़ी ही—सन्तों की संगत करने से मन के करोड़ों दोष मिट जाते हैं॥ ७॥

जा घर गुरु की भक्ति नहीं, संत नहीं मिहमान।
ता घर जम डेरा दिया, जीवत भये मसान॥ ८॥

जिसके घर में गुरु की भक्ति नहीं है और सन्त-पाहुन नहीं आते, उसके घर में बुराई ही अपना डेरा जमा देती है, सबके जीते-जागते भी उसका घर श्मशान के तुल्य है॥ ८॥

कबीर खाई कोट की, पानी पिवै न कोय।
जाय मिलै जब गंग में, सब गंगोदक होय॥ ९॥

कोट की खाई (शहर का पनाला) का गन्दा पानी कोई नहीं पीता, परन्तु वही जाकर जब गंगा नदी में मिल जाता है, तब सब पवित्र गंगाजल हो जाता है॥ ९॥

भाव—बुरे का कोई आदर नहीं करता, परन्तु वही जब सत्संग से भला हो जाता है, तो उसे लोग शिरमौर मान लेते हैं, जैसे वाल्मीकि आदि।

कबीर कलह रु कल्पना, सतसंगति से जाय।
दुख बासो भागा फिरै, सुख में रहै समाय॥ १०॥

मन की कलह-कल्पनाएं सत्संग से ही जाती हैं। उससे दुख दूर हो जाता है, और वह सुख-सिन्धु संत-गुण में स्थित हो जाता है॥ १०॥

साधु संग अन्तर पड़े, यह मति कबहु न होय।
कहैं कबीर तिहु लोक में, सुखी न देखा कोय॥ ११॥

जिससे संतों की संगत से दूर हो जाय ऐसी कुबुद्धि कभी नहीं लानी चाहिए। क्योंकि तीनों लोक में (त्रिगुणी जीव) सत्संग को त्यागकर कोई सुखी नहीं दिखाई पड़ा॥ ११॥

साखी शब्द बहुतै सुना, मिटा न मन का दाग।
संगति सो सुधरा नहीं, ताका बड़ा अभाग॥ १२॥

यदि निर्णयपूर्ण साखी-शब्द बहुत सुना, परन्तु मन के दोष नहीं मिटे, सत्संग से सुधार नहीं हो सका, तो उसका बड़ा ही दुर्भाग्य है॥ १२॥

साधुन के सतसंग से, थर-थर काँपै देह।
कबहूँ भाव कुभाव ते, जनि मिटि जाय सनेह॥ १३॥

श्रद्धालु एवं उत्तम पुरुषों की देह इस डर से थर-थर कांपती है कि कभी कुसंग या कुभावना के प्रभाव में आकर संतों के सत्संग से प्रेम हट न जाय॥ १३॥

मन दीया कहुँ और ही, तन साधुन के संग।
कहैं कबीर कोरी गजी, कैसे लागै रंग॥ १४॥

केवल शरीर को सत्संग में रखकर मन कहीं पृथक ही लगा रखा है (तो कल्याण नहीं होता)। बिना धोई चादर में कैसे रंग चढ़ सकता है?॥ १४॥

भुवंगम बास न बेधई, चन्दन दोष न लाय।
सब अंग तो विष सों भरा, अमृत कहाँ समाय॥ १५॥

चन्दन के वृक्ष में लिपटे रहने पर भी सर्प के अंग में चन्दन की सुगंधी नहीं बेधती, तो इसमें चन्दन का दोष नहीं है, क्योंकि सर्प का सारा शरीर तो विष से पूर्ण है, फिर अमृत-सुगंधी कहां प्रविष्ट हो॥ १५॥

भाव—सत्संग में रहने पर भी यदि किसी का सुधार नहीं हुआ, तो उसमें उसी का विषैलापन है, सत्संग का दोष नहीं।

कबीर कुसंग न कीजिये, पाथर जल न तिराय।
कदली सीप भुजंग मुख, एक बुंद तिर भाय॥ १६॥

गुरु कबीर कहते हैं कि कुसंगत न करो, पत्थर की नावका पर चढ़कर कोई नदी पार नहीं कर सकता। (लोकमान्यतानुसार) स्वाति की बूंद केले में पड़ने से कपूर, सीपी में पड़ने से मोती और सर्प के मुख में पड़ने से विष हो जाती है, इस प्रकार एक ही प्रकार की बूंद में संगत अनुसार तीन भांति हो जाता है ॥ १६॥

कबीर गुरु के देश में, बसि जानै जो कोय।
कागा ते हंसा बनै, जाति बरन कुल खोय॥ १७॥

सद्गुरु के ज्ञान-देश में जो कोई बसता है, वही उसके महत्त्व को जानता है। वह जाति-वर्ण-कुल को मिटाकर कौआ से हंस हो जाता है॥ १७॥

गिरिये परवत सिखर ते, परिये धरनि मंझार।
मूरख मित्र न कीजिये, बूड़ो काली धार॥ १८॥

पर्वत के शिखर से गिरकर मर जाना अच्छा है, पृथ्वी में समा जाना अच्छा है, और अन्धे कुएं में डूब मरना अच्छा है, परन्तु मूर्ख मित्र (कुसंगत) करना अच्छा नहीं॥ १८॥

मूरख को समुझावते, ज्ञान गाँठि का जाय।
कोयला होय न ऊजला, सौ मन साबुन लाय॥ १९॥

मूर्ख को उपदेश करने से अपने पास का ज्ञान चला जाता है (उसकी मूर्खता पर उपदेशक के मन में उद्विग्नता उठ पड़ती है)। मूर्ख तो कोयले के समान है, सौ मन साबुन से धोने पर भी उजला होने वाला नहीं है (अतः ऐसे लोगों से माथापच्ची मत करो) ॥ १९॥

कोयला भी हो ऊजला, जरि बरि है जो सेत।
मूरख होय न ऊजला, ज्यों कालर का खेत॥ २०॥

कोयला भी उजला हो जाता है जब भली-भांति जलकर उसमें सफेदी आ जाती है, परन्तु मूर्ख का सुधरना उसी प्रकार नहीं होता जैसे ऊपर खेत में बीज नहीं उगते ॥ २०॥

ऊँचे कुल कह जनमिया, करनी ऊँच न होय।
कनक कलश मद सो भरा, साधुन निन्दा सोय॥ २१॥

केवल ऊंचे कुल में जन्म लेने से किसी के आचरण ऊंचे नहीं हो जाते। सोने का घड़ा यदि मदिरा से भरा हो, तो वह श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा निन्दित ही है॥ २१॥

काचा सेती मति मिलै, पाका सेती बान।
काचा सेती मिलत ही, ह्वै तन धन की हान॥ २२॥

(चाहे साधु-वेषधारी ही क्यों न हो) आचरण-हीन मनुष्यों से न मिलो, ज्ञान-आचरण में पक्के लोगों से ही मिलने का स्वभाव रखो। आचरण-हीन लोगों से मिलने पर तन-धन सबकी हानि होती है॥ २२॥

तोहि पीर जो प्रेम की, पाका सेती खेल।
काची सरसों पेरिकै, खरी भया न तेल॥ २३॥

सत्य में प्रेम करने के लिए तेरे हृदय में यदि बिरह है, तो ज्ञान आचरण में पक्के सद्गुरु से पक्के सद्गुण-ज्ञान की साधना सीख! अन्यथा कच्ची सरसों पेरने से न खली होती है न तेल होता है॥ २३॥

दाग जु लागा नील का, सौ मन साबुन धोय।
कोटि जतन परमोधिये, कागा हंस न होय॥ २४॥

नील के दाग लग जाने पर उसे सौ मन साबुन से धोने पर भी नहीं छूटता। इसी प्रकार करोड़ों उद्योग से बोध दो परन्तु कौआ हंस नहीं होता॥ २४॥

भाव—अत्यन्त मूर्ख का सुधरना कठिन है।

जीवन जोवन राज मद, अविचल रहै न कोय।
जु दिन जाय सत्संग में, जीवन का फल सोय॥ २५॥

जीवन, जवानी तथा राज्य का मद ये कोई भी स्थिर नहीं रहते। जिस दिन सत्संग में जाइये, उसी दिन जीवन का फल मिलता है॥ २५॥

ब्राह्मण केरी बेटिया, माँस शराब न खाय।
संगति भई कलाल की, मद बिन रहा न जाय॥ २६॥

ब्राह्मण की पुत्री मांस-शराब नहीं खाती-पीती; परन्तु जब कलवार (मदिरा निकालने वाले) की संगत पड़ गयी, तो मदिरा के बिना उसे रहा नहीं जाता॥ २६॥

भाव—अच्छी-बुरी संगत का प्रभाव पड़ता है।

साखी शब्द बहुतक सुना, मिटा न मन का मोह।
पारस तक पहुँचा नहीं, रहा लोह का लोह॥ २७॥

ज्ञान से पूर्ण बहुत साखी-शब्द सुनकर भी यदि मन का अज्ञान नहीं मिटा, तो समझ लो पारस पत्थर तक न पहुंचने से लोहा का लोहा ही रह गया॥ २७॥

ज्ञानी को ज्ञानी मिलै, रस की लूटम लूट।
ज्ञानी अज्ञानी मिलै, होवै माथा कूट॥ २८॥

यदि ज्ञानी को ज्ञानी पुरुष मिलते हैं, तो परस्पर ज्ञान एवं प्रेम-रस की छका-छकी होती है। परन्तु ज्ञानी को जब अज्ञानी मिल जाता है, तब केवल माथा कुटम्मस (बकवाद) होती है ॥ २८॥

सज्जन सों सज्जन मिले, होवे दो दो बात।
गदहा सो गदहा मिले, खावे दो दो लात॥ २९॥

सज्जन-सज्जन के परस्पर मिलने पर दो-दो अच्छी बातें होती हैं। परन्तु गधे-गधे के इकट्ठे होने पर, परस्पर दो-दो लात खाते हैं॥ २९॥

कंचन भी पारस परसि, बहुरि न लोहा होय।
चन्दन बास पलास विधि, ढाक कहै नहिं कोय॥ ३०॥

पारस-पत्थर का स्पर्श कर जब लोहा सोना हो जाता है, तब वह पुनः लोहा नहीं होता। मलयगिर की सुगन्धी से पलास के चन्दन हो जाने पर, उसको पुनः कोई पलास नहीं कहता॥ ३०॥

भाव—सत्संग के प्रभाव से शुद्ध हो जाने पर कोई नीच नहीं रहता।

कबीर विषधर बहु मिले, मणिधर मिला न कोय।
विषधर को मणिधर मिले, विष तजि अमृत होय॥ ३१॥

विषधर सर्प बहुत मिलते हैं, मणिवाला सर्प नहीं मिलता। यदि विषधर को मणिधर मिल जाय, तो विष मिटकर अमृत हो जाता है॥ ३१॥

भाव—कहते हैं जिसे सर्प ने काट लिया हो, उसके उस कटे स्थल पर सर्प का मणि लगा देने से मणि विष खींच लेता है। पीछे वही मणि दूध में डाल दिया जाय और वह दूध कोढ़ी पीये, तो उसका कोढ़ दूर हो जाय (यह अपना अनुभव नहीं है; वैसे सर्पमणि भी कल्पित ही है)।

प्रीति करी सुख लेन को, सो सुख गया हिराय।
जैसे पाई छछुन्दरी, पकड़ि साँप पछिताय॥ ३२॥

सुख की प्राप्ति के लिए लोग कुसंगियों से प्रेम करते हैं; परन्तु कुसंगत से वह मनःकल्पित सुख और लुप्त हो गया, और उसकी दशा उसी प्रकार हो गयी, जैसे सर्प छछुन्दर को पकड़कर पछताता है॥ ३२॥

जो छोड़े तो आँधरा, खाये तो मरिजाय।
ऐसे संग छछून्दरी, दोऊ भाँति पछिताय॥ ३३॥

पकड़े हुए छछून्दर को यदि सर्प छोड़ दे तो अन्धा हो जाय, और खा ले तो मर जाय। ऐसे कुसंगियों से प्रेम कर लेने के पश्चात उन्हें छोड़ने पर वे वैरी बन जायंगे, और उनकी संगत बनाये रखने पर, अपना पतन होगा, अतः कुसंगत करने पर दोनों प्रकार से पश्चाताप करना पड़ता है॥ ३३॥

साधू संगत परिहरै, करै विषय का संग।
कूप खनी जल बावरे, त्याग दिया जल गंग॥ ३४॥

संतों की संगत त्यागकर, सुख-प्राप्ति के लिए जो विषयी लोगों की संगत करता है, वह पगला निरयत्न-प्राप्त गंगा जल को त्यागकर जल के लिए क्षण ही में कुआं खोदता है॥ ३४॥

कुआं खोदने से तत्काल नहीं तो विलम्ब में सही, कभी-न-कभी जल मिल सकता है; परन्तु विषय या विषयी लोगों की संगत से कल्याण-सुख तो नहीं मिलता, बल्कि पतन होता है।

लकड़ी जल डूबै नहीं, कहो कहाँ की प्रीति।
अपनी सींचो जानि के, यही बड़न की रीति॥ ३५॥

(प्रश्न) कहो किस प्रीति से लकड़ी को जल नहीं डुबाता। (उत्तर) अपनी सींची हुई जानकर! यही बड़ों का व्यवहार है॥ ३५॥

मैं सींचों हित जानिके, कठिन भयो है काठ।
ओछी संगत नीच की, सिर पर पाड़ी बाट॥ ३६॥

(जल कहता है—) मैंने तो अपना प्रिय जानकर सींचा था, परन्तु काठ कठिन हो गया। और हमारे सिर के ऊपर ही (नावका बनकर) उसने अपना मार्ग बनाया। सच है नीच की संगत बुरी होती है॥ ३६॥

तरुवर जड़ सो काटिया, जवै सम्हारो जहाज।
तारै पर बोरै नहीं, बाँह गहे की लाज॥ ३७॥

लोग वृक्ष को जड़ से काट डालते हैं; परन्तु उस वृक्ष की लकड़ी का जब जहाज बन जाता है, तब वह काटने वाले को नदी-समुद्र से तारता ही है, शत्रु मानकर डुबाता नहीं। सच है, बड़े लोग बांह पकड़ने की लज्जा करते हैं (यहां वृक्ष से उत्तम गुण लिया गया है) ॥ ३७॥

सन्त सुरसरी गंग जल, आनि पखारा अंग।
मैले से निरमल भये, साधू जन के संग॥ ३८॥

संतजन सुरसरि एवं गंगाजल हैं, उसमें जिज्ञासु जन आकर अपने अंग पखारते हैं। संतों की संगत में लोग पापी से पुण्यात्मा हो जाते हैं॥ ३८॥

चर्चा करु तब चौहटे, ज्ञान करो तब दोय।
ध्यान धरो तब एकिला, और न दूजा कोय॥ ३९॥

सत्संग-चर्चा चौक बाजार में करो (जिससे सब सुनें), विशेष ज्ञान-साधना की बात करनी हो, तो उपदेशक और जिज्ञासु दो ही होना चाहिए और यदि ध्यान-मनोनिग्रह करना हो, तो अकेले ही करो, वहां दूसरा नहीं होना चाहिए॥ ३९॥

संगत कीजै साधु की, दिन दिन होवे हेत।
साकुट काली कामली, धोते होय न सेत॥ ४०॥

संतों की संगत इस प्रकार करो कि दिन-प्रतिदिन प्रेम बढ़ते ही जाय। साकट तो काली कमली के तुल्य है, वह धोने से उजला नहीं होगा॥ ४०॥

साधु संग गुरु भक्ति अरु, बढ़त बढ़त बढ़ि जाय।
ओछी संगत खर शब्द रु, घटत घटत घटि जाय॥ ४१॥

सन्तों की संगत और गुरु-भक्ति सत्पात्रों में बढ़ते-बढ़ते बढ़ जाती हैं। और नीचों की संगत (प्रेम) तथा गधे का चिक्कार पहले जोर से उठकर पुनः घटते-घटते घटकर शून्य हो जाता है॥ ४१॥

संगति ऐसी कीजिये, सरसा नर सो संग।
लर लर लोई होत है, तऊ न छाड़ै रंग॥ ४२॥

प्रेम-संगत सहृदय मनुष्य से करो। देखो! लोई लर-लर (जीर्ण-शीर्ण) होने

पर भी अपना रंग नहीं छोड़ती (सच्चा मनुष्य किसी अवस्थ में प्रेम नहीं छोड़ता) ॥ ४२ ॥

तेल तिली सो ऊपजै, सदा तेल को तेल।
संगति को येरो भयो, ताते नाम फुलेल ॥ ४३ ॥

तिल से तेल उत्पन्न होता है, और सदैव तेल-का-तेल ही रहता है। परन्तु फूलों के अर्कों की संगत पाने पर, उसका नाम फुलेल हो जाता है (अतः संगत से स्वरूप परिवर्तित होता है) ॥ ४३ ॥ २८६ ॥

१०

सेवक को अंग

(इस प्रसंग में सेवक के आचरण बताये गये हैं।)

सेवक सेवा में रहै, सेवक कहिये सोय।
कहैं कबीर सेवा बिना, सेवक कभी न होय॥ १॥

सेवक सेवा में रहता है, वही सेवक कहलाता है। गुरु कबीर कहते हैं कि सेवा किये बिना कभी कोई सेवक नहीं हो सकता॥ १॥

सेवक स्वामी एक मत, मत में मत मिलि जाय।
चतुराई रीझै नहीं, रीझै मन के भाय॥ २॥

सेवक-स्वामी का पारस्परिक मत मिलकर एक सिद्धांत होना चाहिए। चालाकी करने से सच्चे स्वामी नहीं प्रसन्न होते, बल्कि हार्दिक भक्ति-भाव से प्रसन्न होते हैं॥ २॥

तू तू करु तो निकट है, दुर दुर करु तो जाय।
ज्यों गुरु राखै त्यों रहै, जो देवै सो खाय॥ ३॥

तू-तू करके बुलावें तो निकट जाय, दुर-दुर करके दूर करे तो दूर जाय। गुरु-स्वामी जैसे रखें उसी प्रकार रहे, जो देवें वही खाय (उनके कथन को सहन करे)॥ ३॥

सतगुरु शब्द उलंघि कै, जो सेवक कहुँ जाय।
जहाँ जाय तहँ काल है, कहैं कबीर समझाय॥ ४॥

गुरु कबीर समझाकर कहते हैं कि अपने सद्‌गुरु के न्यायपूर्ण वचनों का उल्लंघन कर जो सेवक अन्य ओर जाता है, वह जहां जाता है, वहां उसके लिए काल है॥ ४॥

द्वार धनी के पड़ि रहै, धका धनी का खाय।
कबहुक धनी निवाजि है, जो दर छाड़ि न जाय॥ ५॥

सद्गुरु-धनी के द्वार पर पड़कर उनका ठोकर सहे। यदि द्वार न छोड़ दिया, तो कभी सद्गुरु कृपा करेंगे ही ॥ ५ ॥

आशा करै वैकुण्ठ की, दुरमति तीनों काल।
शुक्र कही बलि ना करी, ताते गयो पताल ॥ ६ ॥

आशा तो उत्तम गति की करता है, परन्तु तीनों काल में दुर्बुद्धि से रहित नहीं होता। गुरु शुक्राचार्य की आज्ञा के अनुसार बलि ने नहीं किया, तो राज्य से वंचित होकर पाताल भेजा गया ॥ ६ ॥

गुरु आज्ञा मानै नहीं, चलै अटपटी चाल।
लोक वेद दोनों गये, आये सिर पर काल ॥ ७ ॥

जो गुरु की आज्ञा न मानकर, ऊटपटांग चाल चलता है, वह स्वार्थ-परमार्थ से पतित होकर भविष्य में काल के पंजे में पड़ जाता है ॥ ७ ॥

यह मन ताको दीजिये, साँचा सेवक होय।
सिर ऊपर आरा सहै, तऊ न दूजा होय ॥ ८ ॥

गुरुजनों को चाहिए कि अपना हार्दिक उपदेश उसे दें, जो सच्चा सेवक हो, सिर के ऊपर आरा सहकर भी दूसरा भाव न लावे ॥ ८ ॥

अनराते सुख सोवना, राते नींद न आय।
ज्यों जल छूटी माछरी, तलफत रैन बिहाय ॥ ९ ॥

जिन्हें स्वरूपस्थिति (कल्याण) में प्रेम नहीं है, वे विषय-मोह में सुख से सोते हैं, परन्तु कल्याण-प्रेमी को विषय-मोह में नींद नहीं लगती। उनको तो कल्याण की प्राप्ति के लिए वैसी ही छटपटाहट रहती है, जैसे जल से बिछुड़ी मछली तलफते हुए रात बिताती है ॥ ९ ॥

शीलवन्त सुर ज्ञान मत, अति उदार चित होय।
लज्जावान अति निछलता, कोमल हिरदा सोय ॥ १० ॥

शीलवान ही देवता है, उसका विवेक का मत रहता है, उसका चित्त अत्यन्त उदार होता है, वह बुराइयों से लज्जाशील, सबसे अत्यन्त निष्कपट और कोमल हृदय का होता है ॥ १० ॥

दया और धरमक ध्वजा, धीरजवान प्रमान।
सन्तोषी सुख दायका, सेवक परम सुजान ॥ ११ ॥

दयावान, धर्म की ध्वजा, धैर्यवान, आदर्श, सन्तोषी, सुखदायी सेवक ही परम बुद्धिमान है ॥ ११ ॥

ज्ञानी अभिमानी नहीं, सब काहू सो हेत।
सत्यवान परमारथी, आदर भाव सहेत॥ १२॥

ज्ञान से पूर्ण, अभिमान से रहित, सबसे हिल-मिलकर रहने वाले, सत्यनिष्ठ, परमार्थ-प्रेमी एवं प्रेम-सहित सबका आदर-भाव करने वाले॥ १२॥

यह सब लच्छन चित धरे, अप लच्छन सब त्याग।
सावधान सम ध्यान है, गुरु चरनन में लाग॥ १३॥

उपर्युक्त लक्षणों में अपना मन लगावे और सब प्रकार के बुरे लक्षणों का त्याग करे। मन-इन्द्रियों से सावधान रहे, समता में ध्यान रखे और सद्गुरु के चरण-शरणों में लगा रहे॥ १३॥

गुरुमुख गुरु चितवत रहे, जैसे मणिहि भुवंग।
कहैं कबीर बिसँरै नहीं, यह गुरुमुख को अंग॥ १४॥

जैसे सर्प मणि की ओर देखता रहता है, वैसे गुरुमुख सेवक-शिष्य को चाहिए कि वह सद्गुरु के उपदेश की ओर देखता रहे, कभी भूले नहीं, यही गुरुमुख का लक्षण है ॥ १४॥

उलटे सुलटे बचन के, शीप न मानै दूख।
कहैं कबीर संसार में, सो कहिये गुरुमुख ॥ १५॥

गुरु कबीर कहते हैं कि गुरु के कड़े-नरम वचनों को सुनकर शिष्य-सेवक दुख न माने, वही जगत में गुरुमुख है ॥ १५॥

गुरु आज्ञा लै आवही, गुरु आज्ञा लै जाय।
कहैं कबीर सो सन्त प्रिय, बहु विधि अमृत पाय॥ १६॥

गुरु की अधीनता में रहने वाले को चाहिए कि वह गुरु की आज्ञा लेकर ही यथासम्भव कहीं आना-जाना करे। ऐसा शिष्य गुरु-सन्तों को प्रिय होता है और अनेक प्रकार से बोधामृत प्राप्त करता है ॥ १६॥

कहैं कबीर गुरु प्रेम बस, क्या नियरै क्या दूर।
जाका चित जासों बसै, सो तेहि सदा हजूर॥ १७॥

यदि सद्गुरु में अपना प्रेम बसता है, तो क्या निकट क्या दूर रहे! जिसका मन जिसमें लगा रहता है, वह सदैव उसके सामने ही है॥ १७॥ ॥ ३०३॥

११

दासातन को अंग

(इस प्रसंग में दासता के लक्षण बताये गये हैं।)

गुरु समरथ सिर पर खड़े, कहा कमी तोहि दास।
रिद्धि सिद्धि सेवा करै, मुक्ति न छाड़ै पास॥ १॥

समर्थ सद्‌गुरु तुम्हारे रक्षक खड़े हैं, ऐ दास! तेरे को क्या कमी है! (तू तन-मन से गुरु-पद में लग जा, फिर तो) ऋद्धि-सिद्धि तेरी सेवा करेंगी और मुक्ति तुम्हारा साथ नहीं छोड़ेगी॥ १॥

सुख दुख सिर ऊपर सहै, कबहु न छाड़ै संग।
रंग न लागै और का, व्यापै सतगुरु रंग॥ २॥

अपने सिर पर सुख-दुख सब सह ले, कभी सद्‌गुरु-सन्तों की संगत न छोड़े। अन्य विषय कुसंग आदि में प्रेम न लगने पावे, सद्‌गुरुचरणों में या उनके ज्ञान-आचरण के ही प्रेम में छका रहे॥ २॥

कबीर गुरु सबको चहै, गुरु को चहै न कोय।
जब लग आश शरीर की, तब लग दास न होय॥ ३॥

गुरु तो सबका उद्धार चाहते हैं, परन्तु गुरु को मलिन मन वाले नहीं चाहते। शरीर का आरामतलबी एवं अभिमानी दास नहीं हो सकता॥ ३॥

कबीर गुरु कै भावते, दूरहि तें दीसन्त।
तन छीना मन अनमना, जग से रूठि फिरन्त॥ ४॥

गुरु कबीर कहते हैं कि सद्‌गुरु-ज्ञान के बिरही के लक्षण दूर ही से दिखते हैं। उनका शरीर कृशित एवं मन व्याकुल रहता है, वे जगत से उदास होकर विचरण करते हैं॥ ४॥

भाव—यहां निरा शाब्दिक अर्थ नहीं लगाना है कि गुरुज्ञान का बिरही शरीर से दुर्बल रहता है। वह शरीर से स्वस्थ हो सकता है। खास बात है कि वह मन से उदास रहता है।

दासातन हिरदै नहीं, नाम धरावै दास।
पानी के पीये बिना, कैसे मिटै पियास॥ ५॥

जिसके मन में दीनता-भाव नहीं है, परन्तु केवल अपना नाम दास का धरा लिया है (तो इससे कल्याण नहीं होता)। बिना स्वच्छ जल पीये प्यास कैसे मिट सकती है! ॥ ५॥

दासातन हिरदै बसै, साधुन सो अधीन।
कहैं कबीर सो दास है, प्रेम भक्ति लवलीन॥ ६॥

सेवा एवं प्रेम-भाव जिसके हृदय में बसते हैं और जो सन्तों की अधीनता लिये रहता है, वह प्रेम-भक्ति में लवलीन पुरुष ही सच्चा दास है॥ ६॥

कबीर कुल सोई भला, जा कुल उपजै दास।
जा कुल दास न ऊपजै, सो कुल आक पलास॥ ७॥

वही कुल उत्तम है, जिस कुल में गुरु का भक्त उत्पन्न हो। जिस कुल में भक्त नहीं उत्पन्न होता, वह कुल-कुटुम्ब मदार और पलास का जंगल है॥ ७॥

दास कहावन कठिन है, मैं दासन का दास।
अब तो ऐसा होय रहूँ, पाँव तले की घास॥ ८॥

ऐसा दास होना कठिन है कि—"मैं दासों का दास हूं। अब तो इतना नम्र बन करके रहूंगा, जैसे पांव के नीचे की घास" ॥ ८॥

काहू को न संतापिये, जो सिर हन्ता होय।
फिर फिर वाकूँ बन्दिये, दास लच्छ है सोय॥ ९॥

जिसके सिर पर वर्णाश्रम एवं मत आदि का मद चढ़ा हो, उसको कुछ कहकर सन्ताप न दो। बल्कि बारम्बार उसकी प्रशंसा ही करके उससे हित की बात कहो, (ऐसा करने से सम्भवतः वह चेते) यही गुरु-भक्तों का लक्षण है॥ ९॥

लगा रहै सतज्ञान सो, सबही बन्धन तोड़।
कहैं कबीर वा दास सो, काल रहै हथजोड़॥ १०॥

सभी विषय-बन्धनों को तोड़कर सदैव सत्य-स्वरूपज्ञान की स्थिति में लगा रहे। गुरु कबीर कहते हैं कि उस गुरु-भक्त के सामने काल भी हाथ जोड़कर सिर झुकायेगा॥ १०॥ ॥ ३१३॥

भाव—मनःकल्पना एवं कामादि ही काल हैं। सच्चे ज्ञान-निष्ठ गुरु-भक्त के सामने काम-कल्पनाएं नहीं ठहरतीं।

१२
भक्ति को अंग

(इस प्रसंग में भक्ति का महत्त्व बताया गया है।)

भक्ति भाव भादौं नदी, सबै चली घहराय।
सरिता सोई सराहिये, जेठ मास ठहराय॥ १॥

भादो में नदियां उमड़ चलती हैं, परन्तु उसी नदी की प्रशंसा है जो जेठ महीने में अधिक जलयुक्त हो। इसी प्रकार देखा-देखी थोड़े समय के लिए भक्ति भाव उमड़ आना दूसरी बात है, परन्तु जब हर समय एवं आपत्तिकाल में भी भक्ति बनी रहे, तभी उसकी प्रशंसा है॥ १॥

भक्ति बीज पलटै नहीं, जो जुग जाय अनन्त।
ऊँच नीच घर अवतरै, होय सन्त का सन्त॥ २॥

की हुई भक्ति के बीज निष्फल नहीं होते, चाहे अनन्तों युग बीत जायं। भक्तिमान जीव ऊंच-नीच माने गये किसी भी वर्ण-जाति में उत्पन्न हो, वह सन्त-का-सन्त ही रहता है॥ २॥

भक्ति कठिन अति दुर्लभ, भेष सुगम नित सोय।
भक्ति जु न्यारी भेष से, यह जानै सब कोय॥ ३॥

सच्ची भक्ति कठिन एवं अत्यन्त दुर्लभ है और वेष बना लेना तो सदैव सुलभ है। यह सब जानते हैं कि वेष के दिखावे से भक्ति पृथक वस्तु है॥ ३॥

भाव—"पूज्येष्वनुरागो भक्तिः" पूज्य (वैराग्य-विवेक सम्पन्न सद्गुरु-सन्तों) के प्रति प्रेम रखना प्रथम भक्ति है। फिर प्रेम के साथ सेवा, अहिंसा, सत्याचरण का पालन करना अपने आप होता है। क्योंकि प्रिय के गुण प्रेमी में स्वाभाविक आते हैं। विवेकवान-वैराग्यवान सद्गुरु-सन्तों के अतिरिक्त, जीवों का अज्ञान-अन्धकार नाश करने वाला कोई नहीं है। अतः वे ही प्रेम के पात्र, प्रिय हैं। उन्हीं के द्वारा उद्धार सम्भव है। पुनः—

"स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥ " (आदि शंकराचार्य)

अर्थात स्व-स्वरूप का अनुसन्धान, खोज, चिन्तन, स्थिति—यह अन्तिमी (पग) भक्ति है।

भक्ति भेष यहु अन्तरा, जैसे धरनि अकाश।
भक्त लीन गुरु चरण में, भेष जगत की आश ॥ ४ ॥

भक्ति में और केवल वेष में पृथ्वी-आकाश के समान अन्तर है। भक्तिवान तो विवेकी गुरु की चरण-शरण में अनुरक्त है, और भक्तिहीन केवल वेषधारी सांसारिक विषय-वासनाओं की आशा में डोलता-फिरता है ॥ ४ ॥

ध्यान रहे! यहां भक्ति के वेष का खण्डन नहीं है। शुद्ध वेष भक्तिवर्द्धक है। वेषधारी में जितनी भक्ति देखी जाती है, उतनी अन्यत्र नहीं। यहां केवल वेष का अहंकार करने वालों को चेतावनी दी गयी है। वास्तव में भक्ति आचरण की वस्तु है। वेष तो उसका सहायक मात्र है।

भक्ति पदारथ तब मिलै, जब गुरु होय सहाय।
प्रेम प्रीति की भक्ति जो, पूरण भाग मिलाय ॥ ५ ॥

भक्ति रूपी उत्तम पदार्थ तब मिलता है, जब यथार्थ सद्गुरु मिलें और उनका उपदेश प्राप्त हो। जो प्रेम-प्रीति से पूर्ण भक्ति है, वह पुरुषार्थ रूपी पूर्ण भाग्योदय से मिलता है ॥ ५ ॥

भक्ति दुहेली गुरुन की, नहिं कायर का काम।
सीस उतारे हाथ सों, ताहि मिलै निज धाम ॥ ६ ॥

सद्गुरु की भक्ति कठिन है भक्ति करना कायर का काम नहीं है। जो अपने हाथों से अपना सिर उतारकर गुरु के चरणों में समर्पित कर दे, वह अपनी स्वरूपस्थिति का धाम पाता है ॥ ६ ॥

भक्ति जु सीढ़ी मुक्ति की, चढ़े भक्त हरषाय।
और न कोई चढ़ि सकै, निज मन समझो आय ॥ ७ ॥

भक्ति मुक्ति की सीढ़ी है, इसलिए हर्षित होकर भक्तजन उस पर चढ़ते हैं। आकर अपने मन में समझो, दूसरा कोई इस भक्ति-सीढ़ी पर नहीं चढ़ सकता ॥ ७ ॥

भाव—सत्य की खोज ही भक्ति है।

भक्ति नसेनी मुक्ति की, संत चढ़े सब थाय।
जिन जिन मन आलस किया, जनम जनम पछिताय॥ ८॥

भक्ति मुक्ति का सोपान है, अतः सब सन्त आकर इस पर चढ़ते हैं। जिन लोगों ने इस सोपान पर चढ़ने में आलस्य प्रकट किया, वे जन्म-जन्म पश्चाताप करते रहेंगे ॥ ८॥

भक्ति बिना नहिं निस्तरे, लाख करे जो कोय।
शब्द सनेही होय रहे, घर को पहुँचे सोय॥ ९॥

लाखों यत्न करने पर भी कोई भक्ति के बिना मुक्ति नहीं पा सकता। जो गुरु के निर्णय-वचनों का प्रेमी होता है, वही सत्संग द्वारा अपनी स्थिति को प्राप्त करता है॥ ९॥

भक्ति दुवारा सांकरा, राई दशवें भाय।
मन तो मैगल होय रहा, कैसे आवै जाय॥ १०॥

हे भाई! भक्ति का द्वार राई-दाने के दसवें भाग के बराबर संकीर्ण है और तुम्हारा मन अभिमान-वश मस्ताना हाथी हो रहा है, फिर उस द्वार में वह कैसे आये-जायेगा! ॥ १०॥

भक्ति गेंद चौगान की, भावै कोइ लै जाय।
कहँ कबीर कछु भेद नहिं, कहाँ रंक कहँ राय॥ ११॥

भक्ति तो मैदान के गेंद के समान सार्वजनिक है, जिसे अच्छी लगे, ले जाय। इसमें धनी-गरीब, ऊंच-नीच का भेद-भाव नहीं है॥ ११॥

कबीर गुरु की भक्ति करु, तज विषया रस चौंज।
बार बार नहिं पाइये, मानुष जन्म की मौज॥ १२॥

गुरु कबीर कहते हैं विषय-रस की चाट छोड़कर गुरु की भक्ति करो। क्योंकि यह उत्तम मनुष्य-शरीर की स्वतन्त्रता बारम्बार मिलना कठिन है॥ १२॥

कबीर गुरु की भक्ति बिन, धिक जीवन संसार।
धुँवा का सा धौरहरा, बिनसत लगै न बार॥ १३॥

गुरु-भक्ति बिना संसार में जीवन को धिक्कार है। यह माया तो धुआं के महल के समान है, इसके विनशते विलम्ब नहीं लगेगा॥ १३॥

कबीर गुरु की भक्ति का, मन में बहुत हुलास।
मन मनसा माजै नहीं, होन चहत है दास॥ १४॥

गुरु की भक्ति करने का मन में बड़ा हौसला होवे, परन्तु मन-वासनाओं को शुद्ध किये बिना दास होना चाहे तो नहीं बन सकता (अतः मनोविकारों को छोड़कर गुरु से मिलो) ॥ १४॥

जब लग नाता जाति का, तब लग भक्ति न होय।
नाता तोड़े गुरु भजै, भक्त कहावै सोय॥ १५॥

जब तक जाति-पांति का अभिमान है, तब तक कोई भक्ति नहीं कर सकता। सब अहंकार त्यागकर गुरु की सेवा करने से गुरुभक्त कहला सकता है ॥ १५॥

प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निज दंभ विचार।
उदर भरन के कारन, जन्म गँवाये सार॥ १६॥

जो प्रेम के बिना भक्ति है, विचार करो वह तो अपनी दिखावटी है। केवल पेट भरने के लिए उत्तम जन्म गवांना है॥ १६॥

भाव बिना नहिं भक्ति जग, भक्ति बिना नहीं भाव।
भक्ति भाव इक रूप है, दोऊ एक सुभाव॥ १७॥

दृढ़ प्रेम-बिना भक्ति नहीं, भक्ति के बिना दृढ़ प्रेम नहीं होता। भाव-भक्ति का एक ही स्वरूप है, क्योंकि दोनों का स्वभाव एक है॥ १७॥

गुरु भक्ती अति कठिन है, ज्यों खाड़े की धार।
बिना साँच पहुँचे नहीं, महा कठिन व्यवहार॥ १८॥

गुरु की भक्ति अत्यन्त कठिन है, जैसे तलवार की धार पर चलना। बिना सच्चाई के कोई अन्तिम लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता, अतएव इसका आचरण महान कठिन है॥ १८॥

सद्गुरु की शरण में लगकर धीरे-धीरे भक्ति करते रहने पर सब सरल हो जाता है।

जाति बरन कुल खोय के, भक्ति करै चितलाय।
कहैं कबीर सतगुर मिलै, आवागमन नशाय॥ १९॥

जाति, वर्ण और कुल का अभिमान मिटाकर एवं मन लगाकर भक्ति करे। यथार्थ सद्गुरु के मिलने पर आवागमन का दुख अवश्य मिटेगा॥ १९॥

कामी क्रोधी लालची, इनते भक्ति न होय।
भक्ति करै कोई सूरमा, जाति बरन कुल खोय। २०॥

कामी, क्रोधी, लालची इनसे भक्ति नहीं हो सकती। जाति, वर्ण एवं कुल का मद मिटाकर भक्ति तो कोई शूरवीर करता है॥ २०॥

जब लग भक्ति सकाम है, तब लग निष्फल सेव।
कहँ कबीर वह क्यों मिलै, निहकामी निजदेव। २१॥

जब तक सांसारिक भोगों की कामना रखकर भक्ति की जाती है, तब तक उसकी सेवा (मुक्ति के लिए) उतनी फलवती नहीं होती। गुरु कबीर कहते हैं कि जो अपना चेतन स्वरूप देव कामना-रहित है, उसकी स्थिति जगत-कामना करने से कैसे मिल सकती है!॥ २१॥

आरत है गुरु भक्ति करु, सब कारज सिध होय।
करम जाल भौजाल में, भक्त फँसै नहिं कोय॥ २२॥

अतएव जगत-कामनाओं से दुखी (विरक्त) होकर गुरु की भक्ति करो, फिर मुक्ति के सभी कार्य सिद्ध हो जायंगे। विरक्त गुरुभक्त कर्म या विषय के किसी जाल में नहीं फंसता॥ २२॥

देखा देखी भक्ति का, कबहुँ न चढ़सी रंग।
बिपति पड़े यों छाड़सी, केचुलि तजत भुजंग॥ २३॥

देखा-देखी भक्ति का सच्चा रंग कभी नहीं चढ़ सकता। विपत्ति पड़ने पर ऐसा व्यक्ति भक्ति को उसी प्रकार छोड़ देता है जैसे सर्प केचुलि त्याग देता है॥ २३॥

तोटे में भक्ती करै, ताका नाम सपूत।
मायाधारी मसखरैं, केते गये अऊत॥ २४॥

(केवल मुनाफे ही में नहीं) घाटे में भी भक्ति करे उसी का नाम सच्चा गुरु-भक्त है। सम्पदाशाली कितने ही मसखरे अभिमान में नष्ट हो गये॥ २४॥

ज्ञान सपूरण न भिदा, हिरदा नाहिं जुड़ाय।
देखा देखी भक्ति का, रंग नहीं ठहराय॥ २५॥

जब तक पूर्ण ज्ञान हृदय में नहीं बैठता, तब तक वह शीतल नहीं होता। केवल देखा-देखी भक्ति करने से उसका भाव स्थायी नहीं होता॥ २५॥

खेत बिगारेउ खरतुआ, सभा विगारी कूर।
भक्ति बिगारी लालची, ज्यों केसर में धूर॥ २६॥

खेत की फसल को घास बिगाड़ देती है, सभा को दुष्ट विगाड़ देते हैं। भक्ति को लालची लोग नष्ट कर देते हैं, जैसे केसर में धूल पड़ जाने से वह खराब हो जाता है॥ २६॥

तिमिर गया रवि देखते, कुमति गयी गुरु ज्ञान।
सुमति गयी अति लोभ ते, भक्ति गयी अभिमान॥ २७॥

सूर्य के दिखते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार गुरु-ज्ञान प्राप्त होने पर कुबुद्धि नष्ट हो जाती है। अत्यन्त लोभ से सुबुद्धि नष्ट हो जाती है तथा अभिमान आने पर भक्ति समाप्त हो जाती है॥ २७॥

निर्पक्षी की भक्ति है, निर्मोही को ज्ञान।
निरदुंदी की मुक्ति है, निर्लोभी निर्बान॥ २८॥

जाति-वर्णादि के पक्ष से रहित रहने वाले ही भक्ति कर सकते हैं, मोह का त्यागी ही ज्ञानी होता है। सुख-दुख, मान-अपमान, हर्ष-शोक से निर्द्वन्द्व रहने वाले की ही मुक्ति होती है, और निर्लोभी ही बन्धन-रहित होता है॥ २८॥

विषय त्याग वैराग है, समता कहिये ज्ञान।
सुखदाई सब जीव सों, यही भक्ति परमान॥ २९॥

विषयों का त्याग, यथार्थ वैराग्य, समता, स्वरूप-ज्ञान, सब जीवों से सुखदायी आचरण रखना—यही प्रामाणिक भक्ति कही जाती है॥ २९॥

और कर्म सब कर्म हैं, भक्ति कर्म निहकर्म।
कहैं कबीर पुकारि के, भक्ति करो तजि भर्म॥ ३०॥

अन्य कर्म सब जीवों को बांधने वाले कर्म-जाल हैं, परन्तु भक्ति रूपी कर्म सब कर्मों की जड़ काटकर निष्कर्म बनाने वाला है। अतएव सब भ्रम त्यागकर भक्ति करो॥ ३०॥

भक्ति महल बहु ऊँच है, दूरहि ते दरशाय।
जो कोई जन भक्ति करे, शोभा बरनि न जाय॥ ३१॥

भक्ति रूपी मन्दिर बड़ा ऊंचा है, वह दूर से ही दिखता है (भक्तिमान की सर्वत्र-सदैव प्रशंसा होती है)। अतः जो कोई मनुष्य भक्ति करता है उसकी शोभा अवर्णनीय है॥ ३१॥

भक्तन की यह रीति है, बँधे करे जो भाव।
परमारथ के कारने, यह तन रहो कि जाव॥ ३२॥

भक्तों का व्यवहार ऐसा है कि वे अपने मन को बांधकर उसे भक्ति में लगाते हैं। परमार्थ (सत्य) के लिए यह शरीर अर्पित है, चाहे रहे चाहे नष्ट हो जाय॥ ३२॥

भक्ति पन्थ बहु कठिन है, रती न चालै खोट।
निराधार का खेल है, अधर धार की चोट॥ ३३॥

भक्ति का मार्ग अत्यन्त कठिन है, इसमें रत्ती मात्र असत्यता एवं बुराई नहीं चलती। यह तो निरालम्ब की साधना है, चूकने पर पाताल में गिरकर चोट खाना पड़ेगा॥ ३३॥

भक्ति निसेनी मुक्ति की, संत चढ़े सब आय।
नीचे बाधिनि लुकि रही, कुचल पड़े कू खाय॥ ३४॥

भक्ति मुक्ति की सीढ़ी है, इस पर सब सन्त आकर चढ़ते हैं। नीचे माया-सिंहनी छिपी बैठी है, जो चूकेगा उसको खा लेगी॥ ३४॥

भक्ति भक्ति सब कोइ कहै, भक्ति न जाने भेव।
पूरण भक्ती जब मिलै, कृपा करे गुरुदेव॥ ३५॥

भक्ति-भक्ति सब कोई कहते हैं, परन्तु भक्ति का भेद नहीं जानते। पूर्ण भक्ति तभी मिलती है जब यथार्थ सद्गुरु मिलें और वे कृपा कर बता दें॥ ३५॥ ३४८॥

अतएव पारखी गुरु की खोज करो। सद्गुरु की शरण में लग जाने पर धीरे-धीरे सब मिल जायगा। इस प्रसंग में बारम्बार भक्ति की कठिनता की बात सुनकर घबराने की आवश्यकता नहीं है। क, ख, ग आदि पढ़ने वाला ही कभी उच्च श्रेणी में पढ़ता है। अतः प्रथम यथार्थ सद्गुरु की खोजकर उनकी सेवा करो, फिर कुछ दुर्लभ नहीं है।

१३

चेतावनी को अंग

(इस प्रसंग में माया की मस्ती का निरसन किया गया है। ध्यानपूर्वक मनन करें।)

कबीर गर्व न कीजिये, काल गहे कर केस।
ना जानो कित मारि हैं, क्या घर क्या परदेस॥ १॥

गुरु कबीर कहते हैं कि तन-धनादि का अहंकार न करो, तुम्हारी चोटी को काल ने पकड़ रखा है। घर या परदेश में, वह पता नहीं कहां मार खाये॥ १॥

कबीर गर्व न कीजिये, इस जोवन की आस।
टेसू फूला दिवस दस, खंखर भया पलास॥ २॥

इस जवानी की आशा में पड़कर मद न करो। दस दिन के लिए फूलों से पलास लद जाता है, फिर फूल झड़ जाने पर वह उजड़ जाता है, वैसे ही जवानी को समझो॥ २॥

कबीर. गर्व न कीजिये, ऊँचा देखि अवास।
काल परौं भुँइ लेटना, ऊपर जमसी घास॥ ३॥

ऊंचा आवास देखकर गर्व न करो। कल-परसों तक में पृथ्वी के भीतर लेटाये जाओगे और तुम्हारे ऊपर घास उग आयेगी॥ ३॥

कबीर गर्व न कीजिये, चाम लपेटी हाड़।
हयवर ऊपर छत्रतट, तो भी देवैं गाड़॥ ४॥

चाम से लपेटे हुए अस्थि-पिंजर-शरीर का मद न करो। उत्तम घोड़े की सवारी तथा राज्यछत्र के नीचे गद्दीनशीन होने पर भी एक दिन तुम्हारे शरीर को लोग भूमि में गाड़ देंगे॥ ४॥

कबीर गर्व न कीजिये, चाम लपेटी हाड़।
इक दिन तेरा छत्र सिर, देगा काल उखाड़॥ ५॥

चर्ममय हड्डी की देह का मद न करो। एक दिन तुम्हारे सिर के छत्र को काल उखाड़ देगा॥ ५॥

कबीर गर्व न कीजिये, देही देखि सुरंग।
बिछुरे पर मेला नहीं, ज्यों केंचुली भुजंग॥ ६॥

गुरु कबीर कहते हैं कि सुन्दर रंगवाली देह देखकर मत भूलियेगा। यह सर्प-केंचुलीवत बिछुड़ने पर पुनः नहीं मिलेगी॥ ६॥

कबीर नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखहु आय॥ ७॥

माया में मस्त होकर दस दिन नौबत-नगाड़े भले बजवा लो। फिर तो यह ग्राम, बाजार तथा सड़कें पुनः देखने को नहीं पाओगे॥ ७॥

कबीर थोड़ा जीवना, माढ़ै बहुत मढ़ान।
सबही ऊभा पन्थ सिर, राव रंक शुल्तान॥ ८॥

जीना तो थोड़ा है, और ठाट-बाट बहुत रचता है। राजा, रंक, महाराजा—आने-जाने का मार्ग सबके सिर पर है (सब बारम्बार जन्म-मरण में नाच रहे हैं)॥ ८॥

कबीर धूलि सकेलि के, पुड़ी जो बाँधी येह।
• दिवस चार का पेखना, अन्त खेह की खेह॥ ९॥

इस जीव ने मिट्टी को बटोरकर यह शरीर की पुड़िया बना ली है। यह चार दिन के लिए देखने मात्र का है, अन्ततः तो यह मिट्टी-की-मिट्टी ही है॥ ९॥

कबीर मन्दिर लाख का, जड़िया हीरा लाल।
दिवस चारि का पेखना, विनशि जायगा काल॥ १०॥

लाख (लाह) के मन्दिर में हीरे-लाल जड़े हैं। चार दिन का देखने मात्र का है, अन्त में तो काल विनष्ट ही कर देगा। (नश्वर-शरीर में ज्ञान-रत्न है, इसी का सदुपयोग करो)॥ १०॥

कबीर सपने रैन के, ऊघरी आये नैन।
जीव परा बहु लूट में, जागूँ लेन न देन॥ ११॥

रात में सपना देखते-देखते नेत्र खुल गये तो प्रतीत हुआ कि जीव व्यर्थ ही स्वप्न की लूट (आनन्द-क्लेश) में पड़ा था, जागने पर स्वप्न-संसार से न कुछ लेना न देना॥ ११॥

भाव—इसी प्रकार संसार के मोह-स्वप्न से जागने पर विवेकी को जगत तुच्छ दिखता है।

कबीर यह संसार है, जैसा सेमल फूल।
दिन दस के व्यवहार में, झूठे रंग न भूल॥ १२॥

गुरु कबीर कहते हैं कि इस संसार की सभी माया सेमल के फूल-सदृश केवल दिखाऊ है। अतः जीवन के दस दिन के व्यवहार एवं चहल-पहल में मत भूलो॥ १२॥

कबीर जो दिन आज है, सो दिन नाहीं काल।
चेति सकै तो चेत ले, मीच परी है ख्याल॥ १३॥

कल्याण-साधना करने योग्य स्वतन्त्रता का दिन जैसा आज है, वैसा कल भी रहेगा—यह भरोसा न करो। सावधान होना हो तो हो जाओ, मृत्यु सिर पर है, चेतो! ॥ १३॥

कबीर यह तन जात है, सकै तो ठौर लगाव।
कै सेवा करु साधु की, कै गुरु के गुन गाव॥ १४॥

हे मनुष्यो! इस शरीर का समय बीता जा रहा है, बन सके तो अपना कल्याण करो। या तो सन्तों की सेवा करो या सद्गुरु के ज्ञान-गुण का वर्णन-सत्संग करो॥ १४॥

कबीर खेत किसान का, मिरगन खाया झारि।
खेत बिचारा क्या करे, धनी करे नहिं बारि॥ १५॥

जीव-किसान के सत्संग-भक्ति रूपी खेत को इन्द्रिय-मन एवं कामादि रूपी पशुओं ने एकदम खा लिया। खेत बेचारे का क्या दोष है, जब स्वामी-जीव रक्षा नहीं करता॥ १५॥

कबीर बेड़ा जरजरा, कूड़ा खेवनहार।
हरुये हरुये तरि गये, बूड़े जिन सिर भार॥ १६॥

शरीर बेड़ा (जहाज) जीर्ण-शीर्ण है, इसका खेने वाला मूर्ख है। अहंकार-भार से हलके लोग तो तर गये; परन्तु जिनके सिर पर अहंकार का भार है, वे डूब गये॥ १६॥

कबीर पाँच पखेरुआ, राखा पोष लगाय।
एक जु आया पारधी, लइ गया सबै उड़ाय॥ १७॥

प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान—इन पांच पक्षियों को जीव ने अन्न-जलादि से पाल-पोपकर सुरक्षित कर रखा था। एक काल-शिकारी आया और सबको उड़ा ले गया॥ १७॥

कबीर नाव तो झाँझरी, भरी बिराने भार।
केवट सो परचै नहीं, क्यों कर उतरे पार॥ १८॥

शरीर रूपी नावका (इन्द्रिय-असंयम रूपी) अनेक छिद्रों से झांझरी है; पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा रूपी पराया (मायावी) बोझा लाद लिया है। सद्गुरु मल्लाह से परिचय ही नहीं है, फिर क्योंकर पार उतर सकता है! ॥ १८॥

कबीर रसरी पाँव में, कहँ सोवै सुख चैन।
साँस नगारा कूँच का, बाजत है दिन रैन॥ १९॥

हे जीवो! तुम्हारे पैरों में काल की रस्सी बंधी है, माया में सुख-चैन मानकर तू कहां सो रहा है! श्वास रूप कूच का नगारा रात-दिन बज रहा है, सावधान हो जाओ॥ १९॥

कबीर जन्त्र न बाजई, टूटि गये सब तार।
जन्त्र बिचारा क्या करे, गया बजावनहार॥ २०॥

एक दिन श्वास रूपी तार के टूट जाने पर शरीर-यन्त्र नहीं बजता। यन्त्र बेचारा क्या करे, जब उसे बजाने वाला अविनाशी जीव चला गया॥ २०॥

कबीर गाफिल क्या करे, आया काल नजीक।
कान पकरि के ले चला, ज्यों अजियाहि खटीक॥ २१॥

हे जीवो! असावधान होकर क्या करते हो, मृत्यु तो नित्य तुम्हारे निकट आ रही है। एक दिन वह तुम्हें उसी प्रकार ले जायगी, जैसे बधिक बकरी का कान पकड़कर ले जाता और मार डालता है॥ २१॥

कबीर पानी हौज का, देखत गया बिलाय।
ऐसे ही जीव जायगा, काल जु पहुँचा आय॥ २२॥

हौज का पानी मोरी के मार्ग से देखते-देखते समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार शरीर रूपी हौज से श्वास रूपी पानी, नाक रूपी मोरी से क्रमशः निकलते-निकलते एक दिन सम्पूर्ण समाप्त हो जाता है, और जीव शरीर त्यागकर चल बसता है॥ २२॥

मरेंगे मरि जायँगे, कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसायँगे, छोड़ि बसन्ता गाम॥ २३॥

वर्तमान के सभी लोग मरेंगे और निश्चय ही मर जायंगे, फिर कुछ दिन में उनका कोई नाम भी नहीं लेगा। बसा हुआ ग्राम छोड़कर जंगल में बस्ती बसायँगे (नरतन त्यागकर पशु आदि खानि में जायँगे) ॥ २३॥

ढोल दमामा दुरबरी, सहनाई संग भेरि।
औसर चले बजाय के, है कोइ राखै फेरि॥ २४॥

अपने शासनकाल में ढोल, नगाड़ा, ताशा, शहनाई तथा भेरी भले बजवा लो, अन्त में यहां से अवश्य चलना पड़ेगा, क्या कोई घुमाकर रखने वाला है? ॥ २४॥

एक दिन ऐसा होयगा, सबसे परै बिछोह।
राजा राना राव रंक, सावध क्यों नहिं होय॥ २५॥

एक दिन ऐसा आयेगा कि राजा, राणा, धनी, गरीब सबसे बिछुड़न हो जायगा, फिर सावधान क्यों नहीं होता! ॥ २५॥

ऊजड़ खेड़े टेकरी, घड़ि घड़ि गये कुम्हार।
रावन जैसा चलि गया, लंका का सरदार॥ २६॥

जंगल की भूमि को जोतने वाला किसान और ऊंची भूमि को खोद-खोद नीची करने वाला कुम्हार को कौन कहे, रावण जैसा शूरवीर विद्वान लंकाधीश भी चला गया॥ २६॥

आज काल के बीच में, जंगल होगा बास।
ऊपर ऊपर हल फिरै, ढोर चरेंगे घास॥ २७॥

आज-कल के बीच में यह शरीर जंगल में जला या गाड़ दिया जायगा। फिर इसके ऊपर-ऊपर हल चलेंगे और पशु घास चरेंगे॥ २७॥

हाड़ जरै जस लाकड़ी, केस जरै ज्यों घास।
सब जग जरता देखि करि, भये कबीर उदास॥ २८॥

शरीर को जलाने पर हड्डी लकड़ी के सदृश तथा केश घास के समान जल जायँगे। जगत के सारे लोगों को जलते हुए देखकर मुमुक्षु संसार से उपराम हो जाता है॥ २८॥

पानी केरा बुदबुदा, इस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायँगे, ज्यों तारा परभात॥ २९॥

जल के बुदबुदेवत इस मनुष्य की जाति है। देखते-देखते यह छिप जायगा, जैसे प्रातःकाल होते ही तारे छिप जाते हैं॥ २९॥

रात गँवाई सोयकर, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय॥ ३०॥

रात को सोने में और दिन को खाने में समाप्त कर दिया। अनमोल हीरावत नर-जन्म था, परन्तु विषय-कौड़ी के बदले में जा रहा है॥ ३०॥

कै खाना कै सोवना, और न कोई चीत।
सतगुरु शब्द बिसारिया, आदि अन्त का मीत॥ ३१॥

या तो खाना या तो सोना, बस, और किसी बात पर ध्यान नहीं। सद्गुरु के ज्ञानोपदेश जो आदि से अन्त तक के मित्र हैं, उनको भूल गया॥ ३१॥

आछे दिन पाछे गये, गुरु सों किया न हेत।
अब पछितावा क्या करे, चिड़ियाँ चुग गईं खेत॥ ३२॥

अच्छे दिन पीछे चले गये (बीत गये) परन्तु यह अभागा मनुष्य सद्गुरु से प्रेम नहीं किया। अब मरने के समय पछताने से क्या होता है, जब कामादि-चिड़ियों ने नरजन्म-खेत को नष्ट कर दिया॥ ३२॥

आज कहै मैं काल भजूँ, काल कहै फिर काल।
आज काल के करत ही, औसर जासी चाल॥ ३३॥

आज कहता है कि मैं कल भजन करूंगा, कल आने पर पुनः कल के लिए कहता है। इसी प्रकार आज-काल करते-करते कल्याण-साधना करने योग्य समय चला जाता है॥ ३३॥

काल करे सो आज कर, सबहि साज तुव साथ।
काल काल तू क्या करे, काल काल के हाथ॥ ३४॥

जो शुभ-कार्य कल करना है, उसे आज ही करो, क्योंकि कल्याण-साधन की समस्त सामग्री तुम्हारे साथ में है। कल करूंगा-कल करूंगा तू क्या करता है, कल तो काल के हाथ में है (क्या पता कल क्या हो)॥ ३४॥

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब्ब।
पल में परलय होयगी, बहुरि करेगा कब्ब॥ ३५॥

कल्याण-साधना के कार्य जो कल करने हैं, उसे आज कर लो, जो आज करना है, उसे अभी कर लो, पल ही में तो प्रलय हो जायगा, फिर कब करोगे!॥ ३५॥

पाव पलक की सुधि नहीं, करै काल का साज।
काल अचानक मारसी, ज्यों तीतर को बाज॥ ३६॥

पल के चतुर्थांश का तो पता नहीं है और तू कल के लिए साज सजता है। इस धोखा में काल तुम्हें उसी प्रकार अचानक दबोच खायेगा, जैसे तीतर-पक्षी को बाज मार लेता है॥ ३६॥

पाव पलक तो दूर है, मो पै कहा न जाय।
ना जानो क्या होयगा, पाव के चौथे भाय॥ ३७॥

हे भाई! पल की चौथाई की बात तो दूर है, मुझ से तो यहां तक नहीं कहा जाता कि पल के चतुर्थांश के चतुर्थांश में क्या होगा॥ ३७॥

ऊँचा दीसे धौहरा, माड़ी चीती पोल।
एक गुरु के नाम बिन, जम मारेंगे रोल॥ ३८॥

ऊंची अटारी दिखती है, रंग से लिपी और चित्रों से चित्रित हैं, परन्तु निस्सार हैं। काल एक गुरु के ज्ञान बिना दौड़कर खा जायेगा॥ ३८॥

ऊँचा मन्दिर मेड़िया, चूना कली बुलाय।
एकहिं गुरु के नाम बिन, जदि तदि परलय जाय॥ ३९॥

चूने-पत्थर-सीमेंट आदि के बेल-बूटे ढलवाकर, ऊंचा मन्दिर उठवाया। एक गुरु-ज्ञान-बिना तुम्हारा कल्याण नहीं होगा और मन्दिर आदि मायावी पदार्थ तो कभी-न-कभी नष्ट होंगे ही॥ ३९॥

ऊँचा महल चुनाइया, सुबरन कली बुलाय।
वे मन्दिर खाली पड़े, रहै मसाना जाय॥ ४०॥

स्वर्णमय बेल-बूटे ढलवाकर, ऊंचा मन्दिर चुनवाया। वे मन्दिर भी एक दिन खाली पड़ गये, और मन्दिर बनवाने वाले श्मशान में जा बसे॥ ४०॥

सातों शब्द जु बाजते, घर घर होते राग।
ते मन्दिर खाली पड़े, बैठन लागे काग॥ ४१॥

'सा रे ग म प ध नी' हारमोनियम के सातों स्वर जहां बजते थे, कोठरी-कोठरी में राग-रागनियां होती थीं, वे मन्दिर भी खाली पड़ गये, और उन पर कौवे बैठने लगे॥ ४१॥

कहा चुनावै मेड़िया, चूना माटी लाय।
मीच सुनेगी पापिनी, दौरि के लेगी आय॥ ४२॥

चूना-मिट्टी मंगाकर कहां मन्दिर चुनवा रहा है, पापनी मृत्यु सुनेगी, तो आकर धर दबोचेगी॥ ४२॥

कहा चुनावै मेड़िया, लम्बी भीत उसारि।
घर तो साढ़े तीन हाथ, घना तो पौने चारि॥ ४३॥

लम्बी भित्त और ओसारा (परछी) के सहित कहां तू महल चुनाने में व्यस्त है, तुम्हारा घर तो साढ़े तीन हाथ का है, बहुत हुआ तो पौने चार हाथ का॥ ४३॥

पाँच तत्त्व का पूतरा, मानुष धरिया नाम।
दिना चार के कारने, फिर फिर रोके ठाम॥ ४४॥

पंच तत्त्वों से निर्मित शरीर का मनुष्य नाम रखा। चार दिन के क्षणिक भोगों के कारण, बारम्बार जीव अपने मुक्ति-धाम का द्वार रोक रखता है॥ ४४॥

पाकी खेती देखि के, गरब किया किसान।
अजहूँ झोला बहुत है, घर आवै तब जान॥ ४५॥

पकी हुई खेती को देखकर किसान के मन में गर्व हुआ। परन्तु भाई, अभी भी बहुत विघ्न हैं, घर में आ जाय तब जानो॥ ४५॥

हाड़ जलै लकड़ी जले, जले जलावन हार।
कौतुकहारा भी जले, कासों करूँ पुकार॥ ४६॥

शरीर की हड्डी जल जाती है, हड्डी को जलाने वाली लकड़ी भी जल जाती है और इन दोनों को जलाने वाला मनुष्य भी किसी दिन जल जाता है। दाह-क्रिया को देखने वाले तमाशबीन भी एक-एक करके समय-समय से जल जाते हैं; फिर किसके सामने पुकार करूं!॥ ४६॥

घर रखवाला बाहिरा, चिड़ियाँ खाईं खेत।
आधा परधा ऊबरे, चेति सके तो चेत॥ ४७॥

शरीर का रक्षक जीव सत्योपदेश सुनने से बहरा है, कामादि पक्षी नर जन्म रूपी फसल को नष्ट कर दिये। बचाखुचा आधा-तिहाई बचा लो, सावधान हो सको तो सावधान हो जाओ॥ ४७॥

मौत बिसारी बावरी, अचरज कीया कौन।
तन माटी में मिल गया, ज्यों आटा में लौन॥ ४८॥

हे पगली! तू मृत्यु को क्यों भूल गयी, इस आश्चर्य में तेरे को किसने डाला, एक दिन तो यह शरीर मिट्टी में उसी प्रकार मिल जायगा, जैसे आटा में नमक! ॥ ४८॥

जनमै मरन विचार के, कूरे काम निवारि।
जिन पंथा तोहि चालना, सोई पंथ सँवारि॥ ४९॥

कर्म-फल भोगने के लिए अविनाशी जीव जन्म-मरण में घूमता रहता है—ऐसा विचारकर बुरे कर्मों को छोड़ो। जिस कल्याणपथ में तुम्हें चलना है, उसी में चलो॥ ४९॥

माटी कहै कुम्हार को, क्या तू रौंदे मोहि।
एक दिन ऐसा होयगा, मैं रौंदोंगी तोहि॥ ५०॥

मिट्टी मानो कुम्हार से कहती है—तू मुझे क्या रौंदता है, एक दिन ऐसा आयेगा कि मैं तेरे को रौंदूंगी॥ ५०॥

लकड़ी कहै लुहार से, तू मति जारे मोहिं।
एक दिन ऐसा होयगा, मैं जारौंगी तोहिं॥ ५१॥

लकड़ी लुहार से कहती है—तू मुझे मत जलावे। एक दिन ऐसा होगा कि मैं तेरे को जलाऊंगी॥ ५१॥

कहा किया हम आय के, कहा करेंगे जाय।
इत के भये न ऊत के, चाले मूल गँवाय॥ ५२॥

संसार में आकर हम क्या किये, यहां से जाकर तो और भी कुछ नहीं बन सकेगा। न भोग स्थिर रहा और न इसे त्यागकर मोक्ष-प्राप्त किये, बल्कि मूल (नरजन्म के कर्म) को भी नष्ट करके चौरासी चक्कर में चले॥ ५२॥

यह तन काँचा कुंभ है, लिया फिरै थे साथ।
टपका लागा फुटि गया, कछू न आया हाथ॥ ५३॥

यह शरीर मिट्टी का कच्चा घड़ा है, इसको साथ में लेकर घूम रहे थे। काल का एक धक्का लगा और यह फूट गया, कुछ भी हाथ में नहीं आया॥ ५३॥

यह तन काँचा कुंभ है, चोट चहूँ दिस खाय।
एकहिं गुरु के नाम बिन, जदि तदि परलय जाय॥ ५४॥

यह शरीर रूपी कच्चा घड़ा, चारों ओर चोट खाता (त्रयताप सहता) है। एक गुरु के ज्ञान विना कल्याण न हुआ, और यह शरीर तो कभी-न-कभी नष्ट होगा ही॥ ५४॥

यह तन काँचा कुंभ है, माहि किया रहिवास।
कबीर नैन निहारिया, नहिं जीवन की आस॥ ५५॥

यह शरीर मिट्टी का कच्चा घड़ा है, इसमें अविनाशी जीव ने अपना निवास-स्थान बनाया है। हे मनुष्यो! नेत्र खोलकर देखो, जीने की आशा नहीं है॥ ५५॥

दुनिया सेती दोसती, होत भजन में भंग।
एकाएकी राम सो, कै साधुन के संग॥ ५६॥

संसारी लोगों से मित्रता करने से अपने भजन-साधन में विघ्न होता है। एकाएकी स्वस्वरूप राम में ही रमण करना चाहिए या सन्तों के संग में बैठकर सत्संग करना चाहिए॥ ५६॥

दुनिया के धोखे मुआ, चला कुटुम की कानि।
तब कुल की क्या लाज है, जब ले धरा मसानि॥ ५७॥

संसार की धोखा-धड़ी में यह जीव पच-मुवा, जीवनपर्यन्त कुल-कुटुम्ब की मर्यादा में जकड़ा हुआ चलता रहा। अरे भोले! तब तेरे कुल की लज्जा कहां रहेगी, जब तेरे शव को लोग श्मशान में ला धरेंगे॥ ५७॥

कुल खोये कुल ऊबरै, कुल राखे कुल जाय।
राम निकुल कुल भेटिया, सब कुल गया बिलाय॥ ५८॥

कुल-जाति के अभिमान को मिटाकर भक्ति करने पर कुल (सम्पूर्ण प्रकार से) उद्धार होता है, और कुल-जाति का अभिमान रखने पर कुल (सम्पूर्ण) नष्ट हो

जाता है। जाति-कुल से रहित अपने आप स्वरूप-राम का साक्षात्कार हो जाने पर सब कुल-वर्ण विलीन हो जाते हैं॥ ५८॥

कुल करनी के कारने, हंसा गया बिगोय।
तब कुल काको लाजि है, चारि पाँव का होय॥ ५९॥

कुल-जाति की मर्यादा एवं मद में पड़कर जीव पतित हो गया। तब कुल की क्या लज्जा रहेगी, जब धर्म-भक्ति-हीन होने के कारण भविष्य-जन्म में चार पैर का पशु बनोगे॥ ५९॥

कुल करनी के कारने, ढिग ही रहिगो राम।
तब कुल काको लाजि है, जब जमकी धूमाधाम॥ ६०॥

कुल-मर्यादाभिमान में पड़ने के कारण राम अपना स्वरूप होते हुए भी उसका बोध नहीं हुआ। जब मौत का दिन आयेगा तब कुल की क्या लज्जा रहेगी!॥ ६०॥

ऊजल पहिने कापड़ा, पान सुपारी खाय।
कबीर गुरु की भक्ति बिन, बाँधा जमपुर जाय॥ ६१॥

बहुत चमकीले कपड़े पहनते हैं, पान-सुपारी खाते हैं, परन्तु गुरु-भक्ति के बिना वासना में बंधकर चौरासी में जाना पड़ेगा॥ ६१॥

मलमल खासा पहिरते, खाते नागर पान।
टेढ़ा होकर चालते, करते बहुत गुमान॥ ६२॥
महलन माही पौढ़ते, परिमल अंग लगाय।
ते सपने दीसै नहीं, देखत गये बिलाय॥ ६३॥

उत्तम खासा मलमल कपड़े पहनते थे, नागर-पान खाते थे, मारे अभिमान के टेढ़े होकर ही चलते थे॥ ६२॥ सुगन्धित द्रव्यों का अनुलेपन कर भव्य भवनों में शयन-विलास करते थे, परन्तु अब वे स्वप्न में भी नहीं दिखते। देखते-देखते विलीन हो गये॥ ६३॥

जंगल ढेरी राख की, उपरि उपरि हरियाय।
ते भी होते मानवी, करते रंग रलियाय॥ ६४॥

जिनके शरीर के भस्म की ढेरी जंगल में लगी है और उसके ऊपर-ऊपर घास उगी है, वे भी एक दिन मनुष्य थे और रंग-रास, क्रीड़ा-विलास करते थे॥ ६४॥

मेरा संगी कोइ नहीं, सबै स्वारथी लोय।
मन परतीत न ऊपजै, जिय विस्वास न होय॥ ६५॥

चाहे मन में प्रतीत न हो और जीव को विश्वास न पड़े, परन्तु मेरा साथी कोई नहीं है, सब जीव अपने-अपने स्वार्थी हैं॥ ६५॥

जिसको रहना उत घरा, सो क्यों जोड़े मित्त।
जैसे पर घर पाहुना, रहै उठाये चित्त॥ ६६॥

जिसको मोक्षस्थिति में रहना है, वह संसार से मित्रता क्यों जोड़े। उसको तो संसार में उसी प्रकार रहना चाहिए जैसे पहुना दूसरे के घर जाकर वहां से अपना चित्त उठाये रहता है॥ ६६॥

इत पर घर उत है घरा, बनिजन आये हाट।
करम करीना बेचि के, उठि करि चालो बाट॥ ६७॥

इधर (संसार) तो पर घर है, उधर (संसार से पृथक—मोक्षस्थिति) ही अपना स्थायी घर है; संसार-बाजार में तो मोक्ष-साधना का व्यापार करने आये हैं। कर्म का सौदा बेचकर तथा उठकर अपना मार्ग पकड़ो (कर्माध्यास मिटाकर स्व-स्वरूप में स्थित होओ)॥ ६७॥

ज्यों कोरी रेजा बुनै, नीरा आवै छौर।
ऐसा लेखा मीच का, दौरि सकै तो दौर॥ ६८॥

जैसे जोलाहा नरी चलाकर एक-एक सूत पिरोते हुए कपड़ा बुनता है और उसका अन्त निकट आता जाता है, वैसे मृत्यु भी नित्य निकट आती जाती है, अतएव दौड़ सको तो शीघ्र मोक्ष-धाम में दौड़ चल॥ ६८॥

मैं मेरी तू जनि करै, मेरी मूल विनास।
मेरी पग का पैखड़ा, मेरी गल की फाँस॥ ६९॥

शरीर-संसार में तू मैं-मेरी (अहन्ता-ममता) मत कर, अहन्ता-ममता कल्याण की जड़ का नाशक है। जगत-ममता पैर की बेड़ी है, और यही गले की फांसी है॥ ६९॥

तन सराय मन पाहरू, मनसा उतरी आय।
कोइ काहू का है नहीं, देखा ठोंकि बजाय॥ ७०॥

शरीर रूपी धर्मशाले का मन पहरेदार है, इच्छा रूपा यात्रा आकर इसमें उतर पड़ा है (इच्छा का स्वागत करो अर्थात बुरी इच्छा मिटाकर, भली इच्छा को पूर्ण करो, और संसार के मोह में मत फंसो)। क्योंकि ठोक-बजाकर देख लिया कोई किसी का नहीं है ॥ ७० ॥

आये हैं ते जायेंगे, राजा रंक फकीर।
एक सिंघासन चढ़ि चले, एक बाँधे जात जँजीर॥ ७१ ॥

जो जन्मा है, वह मरेगा, राजा-रंक-फकीर कोई भी हो। अन्तर इतना है कि एक तो अपने उच्च कर्मों द्वारा शुभगति को जाता है, और दूसरा कुकर्म की जंजीर में बंधकर चौरासी में जाता है ॥ ७१ ॥

या मन गहि जो थिर रहै, गहरी थूनी गाड़ि।
चलती थिरियाँ उठि चला, हस्ती घोड़ा छाड़ि॥ ७२ ॥

ज्ञान की गहरी धूनी गाड़कर और इस मन को पकड़कर जो शांत रहता है, वही बुद्धिमान है। अन्यथा संसार से कूच करते समय हाथी, घोड़ा सब छोड़कर लोग उठ चलते हैं ॥ ७२ ॥

तू मति जानै बावरे, मेरा है सब कोय।
प्रान पिण्ड सो बँधि रहा, सो नहिं अपना होय॥ ७३ ॥

हे पगले! तू ऐसा मत जान कि सब कोई मेरे हैं। अरे! प्राण से सुरक्षित जो शरीर है यह भी अन्त में अपना नहीं होगा ॥ ७३ ॥

दीन गँवायो दूनि सँग, दुनी न चाली साथ।
पाँव कुल्हाड़ी मारिया, मूरख अपने हाथ॥ ७४ ॥

दूसरे (मांया) के साथ में अपना दिन नष्ट कर दिया, परन्तु अन्ततः माया साथ में न चली। मूर्ख ने अपने हाथों से ही अपने पैर में कुल्हाड़ी मार ली ॥ ७४ ॥

मैं भौंरा तोहि बरजिया, बन बन बास न लेय।
अटकेगा कहुँ बेलि में, तड़फि तड़फि जिय देय॥ ७५ ॥

हे मन भंवरा! मैंने तेरे को रोका था कि विषय के अनेक उपवनों में तू उसका वास न ले। नहीं तो कहीं सुहावनी बेलि (कामिनी आदि) में फंसेगा तो तड़फ-तड़फ कर प्राण देने होंगे ॥ ७५ ॥

काल चक्र चक्की चलै, बहुत दिवस औ रात।
सगुन अगुन दोउ पाटला, तामें जीव पिसात॥ ७६॥

सगुण-निर्गुण दो पाटले वाली कल्पना-काल की चक्की अनादि काल से चलती है, और इसी में सब अबोधी जीव पीसे जाते हैं॥ ७६॥

अपना स्वरूप-बोध सगुण-निर्गुण दोनों से परे, उसका द्रष्टा है।

भय बिन भाव न ऊपजै, भय बिन होय न प्रीति।
जब हिरदै से भय गया, मिटी सकल रस रीति॥ ७७॥

जन्म-मरण एवं कर्म-फल भोगों से भय उत्पन्न हुए बिना सत्संग-भक्ति में भाव नहीं उत्पन्न हो सकता; और भय के बिना दृढ़ प्रीति नहीं होती। हृदय से साधु-गुरु एवं पूज्यजनों का भय जब दूर हो जाता है, तब सब प्रेम व्यवहार समाप्त हो जाता है॥ ७७॥

भय से भक्ति करै सबै, भय से पूजा होय।
भय पारस है जीव को, निरभय होय न कोय॥ ७८॥

चौरासी के दुखों से भय मानकर ही लोग भक्ति करते हैं, भय से ही लोग पूजा-अर्चा भी करते हैं। इस प्रकार का भय ही जीव के हित के लिए कामद मणि है, निर्भय हो जाने पर कल्याण का कोई कार्य नहीं होता॥ ७८॥

डर करनी डर परम गुरु, डर पारस डर सार।
डरत रहै सो ऊबरे, गाफिल खाई मार॥ ७९॥

पाप कर्मों से डरने से ही कर्तव्य सुधरता है; डर रखने से ही श्रेष्ठ गुरु में श्रद्धा बनी रहती है। अथवा डर ही करनी है, डर ही परम गुरु है, डर ही पारस पत्थर है, डर से ही जीवन-लाभ मिलता है। संसार में जो सावधान होकर चलता है, वही उद्धार पाता है, जो असावधान हो जाता है, वह मार खाता है॥ ७९॥

भाव—यहां बुराइयों से, संसार से या अपने मन-इंद्रियों से डरते रहना—सावधान रहना तथा गुरुजनों से अदब रखना—कल्याण का मूल कहा गया है। यों दूसरी दृष्टि से निर्भय व्यक्तित्व होना अत्यन्त आवश्यक है। जो पूर्ण निर्दोष होगा वही पूर्ण निर्भय होगा।

खलक मिला खाली हुआ, बहुत किया बकवाद।
बाँझ हिलावै पालना, तामें कौन सवाद॥ ८०॥

सांसारिकता में डूबे हुए लोग मिले और ज्ञान-आचरण विना बहुत वाद-विवाद किये, तो व्यर्थ ही हुआ। यदि वंध्या विना बच्चे के पालना हिलावे तो उसमें उसे क्या रस मिलेगा!॥ ८० ॥

यह बिरियाँ तो फिर नहीं, मनमें देख विचार।
आया लाभहिं कारनै, जनम जुवा मति हार॥ ८१ ॥

मन में विचार करके देखो, ऐसा उत्तम समय मिलना दुर्लभ है। मुक्ति-लाभ के लिए तू नर-जन्म में आया है, अतः विषय के जुए में नर-जन्म को मत खो!॥ ८१ ॥

बैल गढ़न्ता नर गढ़ा, चूका सींग रु पूँछ।
एकहिं गुरु के ज्ञान बिनु, धिक दाढ़ी धिक मूँछ॥ ८२ ॥

कर्म ने मनुष्य को पशु के सदृश ही बनाया, हां! सींग-पूंछ बनाना चूक गया। एक गुरु ज्ञान बिना, मनुष्य की दाढ़ी-मूंछ दोनों को धिक्कार है॥ ८२ ॥

एक दिन ऐसा होयगा, कोय काहु का नाहिं।
घर की नारी को कहै, तन की नारी जाहिं॥ ८३ ॥

एक दिन ऐसा आयेगा कि कोई किसी का नहीं होगा। घर में रहने वाली नारी को कौन कहे, शरीर की नारी (नाड़ी) भी छूट जायेगी॥ ८३ ॥

बारी बारी आपने, चले पियारे मीत।
तेरी बारी जीयरा, नियरे आवै नीत॥ ८४ ॥

हे जीव! तेरे प्यारे मित्र समय-समय से सब चल बसे। तेरा समय भी नित्य निकट आ रहा है॥ ८४ ॥

परदा रहती पदुमिनी, करती कुल की कान।
घड़ी जु पहुँची काल की, छोड़ भई मैदान॥ ८५ ॥

पद्मिनी (उत्तम) स्त्री परदे के भीतर रहती थी और कुल की लज्जा करती थी। परन्तु मृत्यु की घड़ी आने पर वह भी परदा छोड़कर मैदान में आ लेटी॥ ८५ ॥

मछरी यह छोड़ी नहीं, धीमर तेरो काल।
जिहि जिहि डाबर घर करो, तहँ तहँ मेले जाल॥ ८६ ॥

हे मछली (जीव)! तू यह संसार-तलैया का मोह नहीं छोड़ती है, परन्तु ध्यान रख, धीमर (मन या मौत) तेरा काल हैं। जिस-जिस विषय-तलैया में तुम घर बनाओगी, वह वहीं जाल डालकर फंसा लेगा॥ ८६॥

हे मतिहीनी माछीरी, राखि न सकी शरीर।
सो सरवर सेवा नहीं, जाल काल नहिं कीर॥ ८७॥

हे बुद्धिहीन मछली! तू इस शरीर को सुरक्षित नहीं रख सकती। क्योंकि तूने ऐसे गहरे सरोवर का सेवन नहीं किया, जहां पर धीमर-काल का जाल न पड़ सके॥ ८७॥

भाव—बुद्धिहीन मनुष्य, शरीर का संयम नहीं कर पाता। क्योंकि वह सत्संग-विवेक रूपी गहरे सरोवर का सेवन नहीं करता, जहां मन-काल का दावं नहीं चलता।

अथवा जीव शरीर को तो अमर बना नहीं सकता, और सत्संग-विवेक करके स्वरूपस्थिति भी करता नहीं, जिसमें जन्म-मरण नहीं है।

विषय वासना उरझिकर, जनम गँवाया बाद।
अब पछितावा क्या करे, निज करनी कर याद॥ ८८॥

विषय-वासनाओं में उलझकर जीवन को व्यर्थ ही खो दिया। अब मरती बेला में अपने पूर्व कर्मों का स्मरण करके क्या पश्चाताप करता है!॥ ८८॥

चले गये सो ना मिले, किसको पूछूँ बात।
मात पिता सुत बान्धवा, झूठा सब संघात॥ ८९॥

जो चले गये, वे तो पुनः मिले नहीं, (ऐसे रहने वाले भी चले जायेंगे) फिर किससे रहने की बात पूछूं! अतः माता-पिता-पुत्र-भाई सबका सम्मेलन झूठा है॥ ८९॥

जो तु परा है फंद में, निकसेगा कब अंध।
माया मद तोकूँ चढ़ा, मत भूले मतिमंद॥ ९०॥

यदि तू माया-मोह की फांसी में पड़ा है, तो हे अंधे! उससे कब निकलेगा! तेरे ऊपर माया की मस्ती चढ़ी है, परन्तु हे मतिमन्द! तू इसमें मत भूल॥ ९०॥

कबीर काया पाहुनी, हंस बटाऊ माहिं।
ना जानूं कब जायगा, मोहि भरोसा नाहिं॥ ९१॥

यह शरीर पहुनाई करने का स्थान है, पथिक जीव पहुना बनकर उसमें आ गया है। मैं नहीं जानता पथिक कब चल देगा, मुझे तो (क्षण मात्र का भी) भरोसा नहीं है ॥ ९१ ॥

जिन घर नौबत बाजती, होत छतीसों राग।
सो घर भी खाली पड़े, बैठन लागे काग ॥ ९२ ॥

जिन रजवाड़ों के घरों में नित्य नौबत-नगाड़े बजते थे और छत्तीसों स्वर गूंजते थे, वे घर भी किसी दिन खाली पड़ जाते हैं और उनमें कौआ बैठने लगते हैं ॥ ९२ ॥

क्या करिये क्या जोड़िये, थोड़े जीवन काज।
छाड़ि छाड़ि सब जात हैं, देह गेह धन राज ॥ ९३ ॥

छोटे-से जीवन के लिए क्या कमाया जाय और क्या संग्रह किया जाय। सब लोग तो शरीर, घर, सम्पत्ति एवं राज्य छोड़-छोड़ कर जा रहे हैं ॥ ९३ ॥

जागो लोगों मत सुवो, न करु नींद से प्यार।
जैसा सपना रैन का, ऐसा यह संसार ॥ ९४ ॥

हे लोगो! सावधान होओ, मत सोओ, मोह निद्रा से प्रेम न करो। जैसे रात में दिखता हुआ सपना है, वैसे संसार का सम्बन्ध है ॥ ९४ ॥

एक बुन्द के कारने, रोता सब संसार।
अनेक बुन्द खाली गये, तिनका नहीं बिचार ॥ ९५ ॥

पुत्र का शरीर वीर्य की एक बुन्द ही तो है, उसके मर जाने पर सब संसारी रोते-विलपते हैं। अनेकों बूंदें यों ही नष्ट हो जाती हैं (वैसे पुत्र का शरीर भी सही) ऐसा विचार नहीं कर पाते ॥ ९५ ॥

मरूँ मरूँ सब कोइ कहै, मेरी मरै बलाय।
मरना था सो मरि चुका, अब को मरने जाय ॥ ९६ ॥

सब कोई कहते हैं कि मैं मर जाऊंगा, परन्तु मेरी तो संसार-शरीर की अहंता-ममता रूपी आपत्ति ही मर गयी। मरना था सो मर चुका, अब कौन मरने जायगा ॥ ९६ ॥

भाव—शरीराभिमानी मनुष्य को ही मरने का डर है। इससे मुक्त पुरुष मृत्यु से निर्भय है। क्योंकि वह शरीर के नष्ट होने में अपनी कुछ भी हानि नहीं देखता।

मन मूवा माया मुई, संशय मुवा शरीर।
अविनाशी जो न मरै, तो क्यों मरे कबीर॥ ९७॥

जिनके मन-माया, संशय एवं शरीराभिमान मर गये, वे अविनाशी स्व-स्वरूप चेतन में स्थित हो गये, तो ऐसे विवेकी जन्म-मरण के चक्कर में पुनः क्यों पड़ेंगे! अथवा जीवन्मुक्त पुरुष को शरीर छूटने का क्या डर है!॥ ९७॥

नर नारायन रूप है, तू मति समझै देह।
जो समझै तो समझ ले, खलक पलक में खेह॥ ९८॥

नर-शरीरधारी चेतन जीव ही नारायण स्वरूप है, उसको तू जड़-शरीर मत समझ। देह से भिन्न अपने आप को सर्वोपरि अविनाशी चेतन स्वरूप समझना हो तो समझ लो, अन्यथा शरीर रूपी संसार तो क्षण ही में धूल हो जायगा॥ ९८॥

अहिरन की चोरी करै, करै सुई का दान।
ऊँचा चढ़ि कर देखता, केतिक दूरि बिमान॥ ९९॥

(संसारी तो ऐसे भूल गये हैं कि) निहाई की तो चोरी करते हैं और सुई का दान करते हैं; और ऊपर चढ़कर देखते हैं कि मेरे लिए स्वर्ग से आता हुआ विमान कितनी दूर है॥ ९९॥

आँखि न देखै बावरा, शब्द सुनै नहि कान।
सिर के केस उज्जल भये, अबहूँ निपट अजान॥ १००॥

इन पागलों को स्वतः आंखों से नहीं दिखता, ये ज्ञान के वचन भी अपने कानों से नहीं सुनते। सिर के केश उजले हो जाने पर भी बिलकुल अज्ञानी बने हैं॥ १००॥

क्यों खोवे नरतन वृथा, परि विषयन के साथ।
पाँव कुल्हाड़ी मारही, मूरख अपने हाथ॥ १०१॥

विषयों की आसक्ति में पड़कर, उत्तम नरतन को व्यर्थ में क्यों खोता है! भोले ने अपने हाथ से अपने पैर में कुल्हाड़ी मार ली॥ १०१॥

चेत सवेरे बावरे, फिर पाछे पछिताय।
तोको जाना दूर है, कहैं कबीर बुझाय॥ १०२॥

कबीर साहेब समझाकर कहते हैं कि हे पगले! शीघ्र ही सावधान हो जा। अन्यथा पीछे पश्चाताप करना पड़ेगा। अभी तुम्हें लम्बी यात्रा समाप्त करनी है (बहुत साधना करना है)॥ १०२॥

मूरख शब्द न मानई, धर्म न सुनै विचार।
सत्य शब्द नहिं खोजई, जावै जम के द्वार॥ १०३॥

मूर्ख मनुष्य हितकारी वचन नहीं मानता, धर्म की बात को न सुनता है न विचारता है। सार निर्णय को नहीं खोजता, कुवासना के द्वार ही में फंसकर चौरासी में जाता है॥ १०३॥

राज पाट धन पायके, क्यों करता अभिमान।
पाड़ोसी की जो दशा, भई सो अपनी जान॥ १०४॥

राज्य, सिंहासन और सम्पत्ति पाकर तू अभिमान क्यों करता है! जो (मृत्यु) दशा पड़ोसी की हुई है, वही अपने लिए समझ॥ १०४॥

समुझाये समुझै नहीं, धरे बहुत अभिमान।
गुरु का शब्द उछेद के, कहत सकल हम जान॥ १०५॥

समझाने से नहीं समझता, अपने का ही बहुत अभिमान करता है। सद्गुरु के निर्णय-वचनों को काटकर कहता है—यह सब तो मैं जानता हूं॥ १०५॥

ज्ञानी होय सो मानही, बूझै शब्द हमार।
कहँ कबीर सो बाँचि हैं, और सकल जमधार॥ १०६॥

जो समझदार होगा, वही हमारे शब्द को समझेगा और मानेगा। गुरु कबीर कहते हैं, निर्णय-वचन मानने वाले ही संसार-सागर से बचेंगे, अन्य सब कुवासना की धारा में बहते रहेंगे॥ १०६॥ ४५४॥

१४

काल को अंग

(इस प्रसंग में कालबली की प्रबलता बतायी गयी है।)

काल जीव को ग्रासई, बहुत कह्यों समुझाय।
कहँ कबीर मैं क्या करूँ, कोई नहीं पतियाय।१॥

श्री कबीर साहेब कहते हैं कि मैंने बहुत प्रकार से समझ कर कहा कि प्राणधारी को काल पकड़ेगा; परन्तु मैं क्या करूं, कोई मेरी बात पर विश्वास नहीं करता॥१॥

झूठे सुख को सुख कहै, मानत है मन मोद।
जगत चबैना काल का, कछु मूठी कछु गोद॥२॥

झूठे सुख को सुख कहता है और उसी में प्रसन्नता मानता है। जगत के लोग तो काल के चबैना हैं, वह किसी को मुट्ठी में पकड़कर चबा रहा है और किसी को गोद में रखा है, चबाना चाहता है॥२॥

कबीर टुक टुक चोंगता, पल पल गयी बिहाय।
जिव जंजाले पड़ि रहा, दिया दमामा आय॥३॥

हे जीव! तू क्या टुकुर-टुकुर देखता है, पल-पल बीतता जाता है। जीव जंजाल में ही पड़ रहा है, इतने में मौत ने आकर कूच का नगाड़ा बजा दिया॥३॥

जोवन सिकदारी तजी, चला निशान बजाय।
सिर पर सेत सिरायचा, दिया बुढ़ापै आय॥४॥

जवानी ने अपनी सरदारी त्याग दी और वह नगाड़ा बजाकर चलता बना। इतने में बुढ़ापे ने आकर उज्ज्वल मुकुट सिर पर रख दिया॥४॥

बिरिया बीती बल घटा, केश पलटि भये और।
बिगरा काज सँभारि ले, करि छूटन की ठौर॥५॥

समय बीत गये, शक्ति घट गयी; बाल काले से उजले हो गये। अतः बिगड़े हुए काम को सम्हाल लो और बंधनों से छूटने का स्थान (सत्संग) खोजो॥५॥

जरा श्वान जोबन ससा, काल अहेरी नित्त।
दो बैरी बिच झोपड़ा, कुशल कहाँ सो मित्त॥ ६॥

काल रूपी शिकारी जवानी रूपी खरगोश पर बुढ़ापा रूपी कुत्ते को नित्य छोड़ता है। बुढ़ापा और काल—दो शत्रुओं के बीच में तुम्हारा झोपड़ा है, हे मित्र, कहां से कुशल होगा!॥ ६॥

कुशल कुशल जो पूछता, जग में रहा न कोय।
जरा मुई न भय मुवा, कुशल कहाँ ते होय॥ ७॥

जो सब लोग 'कुशल है, कुशल है' पूछते हैं, सो तो जगत में किसी का कुशल नहीं दिखता। क्योंकि ज्ञान-वैराग्य न होने से जरा-मृत्यु का भय मिटा नहीं, फिर कहां से कुशल होगा!॥ ७॥

माली आवत देखि के, कलियाँ करें पुकार।
फूली फूली चुन लई, काल हमारी बार॥ ८॥

माली को बाग में आते देखकर कलियां पुकार करने लगीं कि खिले हुए फूल सब चुन लिये गये; खिल जाने पर कल मेरी बारी आ जायगी॥ ८॥

भाव—जवानी के मतवाले दो दिन इठला लें, फिर काल तो पीछे लगा ही है। क्योंकि—

जो उगै सो आथवै, फूले सो कुम्हिलाय।
जो चुनै सो ढहि पड़ै, जनमें सो मरि जाय॥ ९॥

उगने वाला डूबता है, खिलने वाला सूखता है, बनायी हुई वस्तु बिगड़ती है, जन्मा हुआ प्राणी मरता है॥ ९॥

निश्चय काल गरासही, बहुत कहा समुझाय।
कहैं कबीर मैं का कहूँ, देखत न पतियाय॥ १०॥

निश्चय समझो काल तुम्हें खायेगा, मैंने बहुत समझाकर कहा। परन्तु मैं क्या कहूं, लोग अन्य को मरते हुए देखकर भी विश्वास नहीं करते॥ १०॥

कबीर जीवन कछु नहीं, खिन खारा खिन मीठ।
काल्हि अलहजा मारिया, आज मसाना दीठ॥ ११॥

इस जीवन में कोई सार नहीं है, इसमें क्षण-क्षण अनुकूलता-प्रतिकूलता के

मीठापन-खारापन आते रहते हैं। जो कल किसी वीर को मार गिराया था, वह आज स्वयं श्मशान में पड़ा दिखाई देता है॥ ११॥

कबीर मन्दिर आपने, नित उठि करता आल।
मरहट देखी डरपता, चौड़े दीया डाल॥ १२॥

नित्य उठकर जो अपने मन्दिर में आनन्द करते थे और श्मशान देखकर डरते थे, वे आज मैदान में उत्तर-दक्षिण करके डाल दिये गये॥ १२॥

कबीर पगरा दूर है, बीच पड़ी है रात।
न जानों क्या होयगा, ऊगन्ता परभात॥ १३॥

हे जीवो! अभी तुम्हारा कल्याण मार्ग बड़ा लम्बा है, बीच ही में अज्ञान की अंधियारी रात पड़ी हुई है। ज्ञानोदय एवं मुक्ति-अवस्था की प्राप्ति तक बीच में न जाने क्या होगा! (सावधान होकर चलो)॥ १३॥

कबीर गाफिल क्यों फिरै, क्या सोता घनघोर।
तेरे सिराने जम खड़ा, ज्यूं अँधियारे चोर॥ १४॥

हे मनुष्यो! क्यों असावधानी में भटकते और मोह की घनघोर निद्रा में सोते हो! तेरे सिरहाने तो मृत्यु उसी प्रकार खड़ी है, जैसे अंधियारी रात में चोर॥ १४॥

यह जीव आया दूर ते, जाना है बहु दूर।
बिच के बासे बसि गया, काल रहा सिर पूर॥ १५॥

यह जीव न जाने किन-किन योनियों से भटककर आया है, और इसे इस संसार से बहुत दूर स्व-स्वरूपस्थिति में स्थित होना है। बीच में विषयों की वासना में ही बस गया है, इधर इसके सिर पर काल गरज रहा है॥ १५॥

काची काया मन अथिर, थिर थिर कर्म करन्त।
ज्यों ज्यों नर निधड़क फिरै, त्यों त्यों काल हसन्त॥ १६॥

शरीर नाशवान है, मन चंचल है, लोग बहुत दिन जीने की आशा में बहुत स्थायी काम कर रहे हैं (मानो इनको यहीं सदैव रहना है)। मनुष्य जैसे-जैसे असावधान होकर घूमता है, वैसे-वैसे (इसकी मूर्खता पर) काल हंसता है॥ १६॥

हम जाने थे खायेंगे, बहुत जिमी बहु माल।
ज्यों का त्यों ही रहि गया, पकरि ले गया काल॥ १७॥

(बड़े-बड़े राजे, जमींदार, सम्पदाशाली एवं अभिमानियों का लक्ष्य करके सद्गुरु कहते हैं)—हम तो यह जाने थे कि ये लोग बहुत भूमि और धन खा जायेंगे; परन्तु सब पदार्थ ज्यों-के-त्यों ही पड़े रह गये, और इन्हें काल पकड़ ले गया॥ १७॥

चहुँ दिसि पाका कोट था, मन्दिर नगर मझार।
खिरकी खिरकी पाहरू, गज बन्दा दरबार॥ १८॥
चहु दिसि ठाढ़े सूरमा, हाथ लिये हथियार।
सबही यह तन देखते, काल ले गया मार॥ १९॥

चारों ओर से पक्का कोट था, मन्दिर शहर के बीच में था। प्रत्येक खिड़की पर पहरेदार सिपाही थे, द्वार पर हाथियों के झुण्ड बंधे थे॥ १८॥ हाथ में तलवार-बन्दूक लेकर चारों ओर से शूरवीर खड़े थे, इस प्रकार सबके देखते-देखते, इस शरीर को काल मार ले गया॥ १९॥

आस पास जोधा खड़े, सबै बजावैं गाल।
मंझ महल से ले चला, ऐसा परबल काल॥ २०॥

आस-पास में शूरवीर खड़े सब डींग हांकते रह गये। बीच मन्दिर से पकड़ कर ले चला, ऐसा काल प्रबल है॥ २०॥

धरती करते एक पग, समुन्दर करते फाल।
हाथों परबत तौलते, ते भी खाये काल॥ २१॥

पृथ्वी को एक पग में नाप लेने वाले वामन को, समुद्र को कूद जाने वाले हनुमान को, हाथ पर गोवर्धन पर्वत उठाने वाले कृष्ण को भी काल ने खा लिया॥ २१॥

हाथों परबत फाड़ते, समुन्दर घूट भराय।
ते मुनिवर धरती गले, का कोई गरब कराय॥ २२॥

हिमालय पर्वत को हाथों से फाड़ डालने वाले रावण तथा सातों समुद्रों को एक ही घूट में पी जाने वाले अगस्त्य जैसे मुनि भी इसी पृथ्वी में गल कर मिल गये, फिर कोई क्या अहंकार करता है! (इन कल्पित दृष्टान्तों का तात्पर्य शरीर की नश्वरता पर प्रकाश डालना है)॥ २२॥

ताजी छूटा शहर ते, कसबै पड़ी पुकार।
दरवाजा जड़ा ही रहा, निकस गया असवार॥ २३॥

जीव की सवारी—प्राणरूपी ताजी घोड़ा शरीररूपी शहर से छूटा और इन्द्रियरूपी बाजार में चिल्ल-गुल्ल मच गया। आंख, नाक, कान आदि दरवाजे जड़े ही रह गये और सवार जीव निकल गया॥ २३॥

बेटा जाये क्या हुआ, कहा बजावै थाल।
आवन जावन होय रहा, ज्यों कीड़ी का नाल॥ २४॥

तेरे पुत्र उत्पन्न हुआ है, तो क्या बड़ा अच्छा हुआ और प्रसंन्नता में तू क्या थाली बजा रहा है! ये तो चींटियों की पंक्ति के समान जीवों का आवागमन लगा है॥ २४॥

बालपना भोले गया, और जुवा महमंत।
वृद्धपने आलस गयो, चला जरन्ते अन्त॥ २५॥

बालकपन तो भोलापन में बीत गया और जवानी मदमस्ती में बीत गयी। बुढ़ापा आलस्य में खो गया, अब अन्त में चिता पर जलने के लिए चला॥ २५॥

संसै काल शरीर में, विषम काल है दूर।
जाको कोइ जाने नहीं, जारि करै सब धूर॥ २६॥

भयंकर मृत्यु तो सम्भवतः दूर भी है, इससे भी भयंकर संशय (अज्ञान) रूपी काल शरीर ही में बसता है। इसको साधारण लोग नहीं जानते, परन्तु यह सबको जलाकर धूल करता है॥ २६॥

जारि बारि मिस्सी करे, मिस्सी करिहै छार।
कहँ कबीर कोइला करै, फिर दै दै औतार॥ २७॥

यह अज्ञान काल जीव को जला-बलाकर कोयला कर देता है और कोयला से राख तथा राख से जलाकर मिस्सी कर देता है, और जीव को बारम्बार जन्म-मरण में नचाता है॥ २७॥

ऐसे साँच न मानई, तिलकी देखो जोय।
जारि बारि कोयला करे, जमते देखा सोय॥ २८॥

यदि इस प्रकार सच्चा न मानो तो तिल को देख लो। तिलई-काष्ठ को जलाकर कोयला कर देने पर भी वह जमता है॥ २८॥

भाव—बारम्बार अज्ञान में जीव जलकर पुनः-पुनः जन्मता है।

संसै काल शरीर में, जारि करै सब धूरि।
काल से बाँचे दास जन, जिन पै द्याल हुजूर॥ २९॥

अज्ञान रूपी काल शरीर में रहता है और सबको जलाकर धूल करता है। काल से गुरु के दास जन ही बचते हैं; जिन पर दयालु सद्गुरु की कृपा-दृष्टि (उपदेश) है॥ २९॥

घाट जगाती धर्मराय, गुरुमुख ले पहिचान।
छाप बिना गुरु नाम के, साकट रहा निदान॥ ३०॥

घाट की चुंगी लेने वाला धर्मराय (वासना) है, वह गुरुमुख को पहचान लेता है। गुरु-ज्ञान रूपी चिह्न-बिना, अन्त में साकट लोग यम के हाथ में पड़ गये॥ ३०॥

खुलि खेलो संसार में, बाँधि न सक्कै कोय।
घाट जगाती क्या करै, सिर पर पोट न होय॥ ३१॥

मोह-बन्धन छोड़कर संसार में विचरो, फिर कोई तुम्हें बांध नहीं सकता। चुंगीवाला क्या करेगा, जब अहंता-ममता की गठरी ही सिर पर नहीं है॥ ३१॥

भाव—निर्हंकारी-निर्मोही का वासना कुछ नहीं कर सकती।

सब जग डरपै काल सो, ब्रह्मा बिश्नु महेश।
सुर नर मुनि और लोक सब, सात रसातल सेस॥ ३२॥

ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सुर, नर, मुनि और सब लोक, सात रसातल तथा शेष तक—जगत के सारे लोग काल से डरते हैं॥ ३२॥

मूसा डरपै काल सों, कठिन काल को जोर।
स्वर्ग भूमि पाताल में, जहाँ जावँ तहँ गोर॥ ३३॥

मूसा पैगम्बर भी काल से डरकर कहता है—"या अल्लामियां! काल का कठिन जोर है। स्वर्ग, भूमि, पाताल में—जहां जाता हूं, वहां कब्र (श्मशान) देखता हूं।"॥ ३३॥

फागुन आवत देखि के, मन झूरे बनराय।
जिन डाली हम केलि किय, सो ही ब्योरे जाय॥ ३४॥

फागुन आते देखकर बनराजा मन में पश्चाताप करने लगा कि "जिन शाखाओं पर हमने आनन्द-क्रीड़ा की थी, वही बौखलाया जाता है" ॥ ३४ ॥

भाव—वृद्धापन आते देखकर मनुष्य अपनी जवानी का स्मरण करके दुखी होता है।

पात झरन्ता देखि के, हँसती कूपलियाँ।
हम चाले तुम चालिहौ, धीरी बापलियाँ ॥ ३५ ॥

झड़ते हुए पत्तों को देखकर कोंपलें (ताजा निकली हुई कोमल पत्तियां) हंसने लगीं (तब झड़ते हुए पत्तों ने उत्तर दिया—) हे पगली! कुछ दिन धैर्य धारण कर! हम आज पीले पड़कर झड़ चले हैं, तुम भी एक दिन हमारे सदृश चल बसोगी ॥ ३५ ॥

भाव—बुड्ढों को देखकर छैल चिकनियां जवान लोग व्यंग्य बोलते हैं। यह नहीं जानते की यही दशा हमारी भी रखी है।

काल पाय जग ऊपजो, काल पाय सब जाय।
काल पाय सब बिनशि हैं, काल काल कहँ खाय ॥ ३६ ॥

समय पाकर संसार के प्राणी-पदार्थ प्रवाह रूप उत्पन्न होते हैं और समय पाकर प्रवाह रूप सब मिटते भी रहते हैं। समय पाकर सब विनष्ट होंगे, क्योंकि किसी काल में बनी हुई वस्तु को काल खाता है ॥ ३६ ॥

काल काल सब कोइ कहै, काल न चीन्हैं कोय।
जेती मन की कल्पना, काल कहावै सोय ॥ ३७ ॥

मृत्यु, सर्प, सिंह आदि को काल-काल सब कहते हैं, परन्तु वास्तविक काल कोई (अविवेकी) नहीं परखता। वास्तव में कामादि जितनी मन की कल्पनाएं हैं ये ही काल हैं ॥ ३७ ॥

काल फिरै सिर ऊपरे, हाथों धरी कमान।
कहैं कबीर गहु ज्ञान को, छोड़ सकल अभिमान ॥ ३८ ॥

हाथों में धन्वा लेकर काल तुम्हारे सिर के ऊपर घूमता है। गुरु कबीर कहते हैं कि सम्पूर्ण अभिमान त्यागकर स्वरूप-ज्ञान ग्रहण करो ॥ ३८ ॥

जाय झरोखे सोवता, फूलन सेज बिछाय।
सो अब कहुँ दीसै नहीं, छिन में गयो बिलाय ॥ ३९ ॥

ऊंची अटारी की खिड़कियों पर फूलों की शय्या बिछाकर जो सोते थे, वे देखते-देखते विनष्ट हो गये, अब स्वप्न में भी नहीं दिखते ॥ ३९ ॥

कबीर पगरा दूरि है, आय पहूँची साँझ।
जन जन को मन राखता, वेश्या रहि गयी बाँझ ॥ ४० ॥

हे मानवो! अभी कल्याण का मार्ग बड़ा लम्बा है, बीच में संध्या की बेला (बुढ़ापा) आ पहुंची है। जैसे अनेक प्रेमियों का मन प्रसन्न करते-करते वेश्या वन्ध्या ही रह गयी, वैसे नाना देवी-देवता और स्त्री-पुत्र-मित्रादि के मोह में फंसकर जीव कल्याण-साधना से हीन ही बना रह गया ॥ ४० ॥ ४९४ ॥

१५

उपदेश को अंग

(इस प्रसंग में मानवोचित सद्‌गुणों का उपदेश है)

काल काल तत्काल है, बुरा न करिये कोय।
अनबोवे लुनता नहीं, बोवे लुनता होय॥ १॥

काल का विकराल गाल तुमको तत्काल ही निगलना चाहता है, अतएव किसी प्रकार भी बुराई न करो। जो नहीं बोया गया है, वह काटने को नहीं मिलता, बोया ही काटा जाता है॥ १॥

काल काम तत्काल है, बुरा न कीजै कोय।
भले भलाई पे लहै, बुरे बुराई होय॥ २॥

काल तत्काल ही काम समाप्त कर देगा, अतः कोई भी बुराई न करो। भलाई का फल सुख और बुराई का फल दुख मिलता है॥ २॥

जो तोको काँटा बुवै, ताहि बुवै तू फूल।
तोहि फूल को फूल है, वाको है तिरशूल॥ ३॥

जो तुम्हारे मार्ग में कांटे बोवे, उसके मार्ग में तुम फूल बोओ। फिर तुम्हारे लिए तो फूल बोने का फल फूल मिलेगा और उसको कांटा बोने का फल त्रिशूल मिलेगा (यद्यपि तुम यह न चाहो कि उसे त्रिशूल (कष्ट) मिले)॥ ३॥

दुरबल को न सताइये, जाकी मोटी हाय।
बिना जीव की साँस से, लोह भस्म होइ जाय॥ ४॥

किसी शक्तिहीन व्यक्ति को किंचित भी दुख न दो, अन्यथा उसके दुख भरे दीर्घश्वास से तुम जल जाओगे। देखो! जीव रहित लोहार की भाथी के श्वास (वायु) से लोहा जैसा कठोर पदार्थ भी भस्म हो जाता है॥ ४॥

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोय।
आप ठगा सुख ऊपजै, और ठगे दुख होय॥ ५॥

हे मनुष्यो! स्वयं को ठगा दो (अपनी भौतिक हानि करा लो) वह अच्छा है, परन्तु अन्य किसी को मत ठगो। अपने को ठगा देने से सुख उत्पन्न होता है, और अन्य को ठगने से वर्तमान-भविष्य दोनों दुखप्रद हो जाते हैं ॥ ५ ॥

भाव—अपनी लौकिक वस्तुएं कुछ छिन जायं, तो हानि मुख्य रूप से नहीं है। फिर समय से कमा लिया जायेगा। परन्तु छल-कपट या बलात्कार पूर्वक दूसरे से लिये हुए पदार्थ का तो लोक-परलोक में बदला देना पड़ेगा और वर्तमान जन्म में अपने मन में भय-सन्ताप बने रहेंगे।

या दुनिया में आय के, छाड़ि देय तू ऐंठ।
लेना होय सो लेइ ले, उठी जात है पैंठ ॥ ६ ॥

इस संसार में आकर तुम सब प्रकार के अभिमान को छोड़ दो, जो खरीदना हो खरीद लो, बाजार उठा जाता है ॥ ६ ॥

खाय पकाय लुटाय ले, यह मनुवा मिजमान।
लेना होय सो लेइ ले, यही गोय मैदान ॥ ७ ॥

स्वयं पका-खा ले और दान कर दे (दूसरे की सेवा कर ले), यह मन-सम्बन्धी जीव तो दो दिन का पहुना है। जो लेना है, ले ले, इस सत्संग-मैदान में नर-शरीर रूपी गेंद संभवतः पुनः हाथ में न लगे ॥ ७ ॥

खाय पकाय लुटाय के, करि ले अपना काम।
चलती बिरिया रे नरा, संग न चले छदाम ॥ ८ ॥

पका-खा और लुटाकर अपना कल्याण कर ले। हे मनुष्य! संसार से कूच करते समय तेरे साथ एक छदाम भी नहीं जायेगा ॥ ८ ॥

लेना हो सो जल्द ले, कही सुनी मति मान।
कही सुनी जुग जुग चली, आवागमन बँधान ॥ ९ ॥

ज्ञान-उपदेश लेना हो सो शीघ्र ले लो, इसमें किसी का कहा-सुना (रोक-टोक) मत मानो। संसारियों-स्वार्थियों की रोक-टोक में पड़कर तो आवागमन में बंधा हुआ तू युग-युगान्तर से चला आता है ॥ ९ ॥

सत ही में सत बाटई, रोटी में ते टूक।
कहैं कबीर ता दास को, कबहुं न आवै चूक ॥ १० ॥

जो सत्तू में से सत्तू और रोटी में से टुकड़ा बांट देता है, वह भक्त अपने धर्म से कभी नहीं चूकता॥ १०॥

देह धरे का गुन यही, देह देह कछु देह।
बहुरि न देही पाइये, अबकी देह सुदेह॥ ११॥

नर-देह धारण करने का यही गुण है, कि कुछ दान करो, दान करो। फिर यह नर-देह मिलना कठिन है, अबकी नर-देह मिला है, दान करो॥ ११॥

कहँ कबीर देय तू, जब लग तेरी देह।
देह खेह होय जायगी, कौन कहेगा देह॥ १२॥

जब तक यह देह है तब तक तू कुछ-न-कुछ देता रह। जब देह धूल में मिल जायेगी तब कौन कहेगा कि 'दो'॥ १२॥

देह खेह होय जायगी, कौन कहेगा देह।
निश्चय कर उपकार ही, जीवन का फल येह॥ १३॥

मरने के पश्चात तुमसे कौन देने को कहेगा; अतः निश्चयपूर्वक परोपकार करो, यही जीवन का फल है॥ १३॥

गाँठि होय सो हाथ कर, हाथ होय सो देह।
आगे हाट न बानिया, लेना होय सो लेह॥ १४॥

जो गांठ में बांध रखा है, उसे हाथ में ला, और जो हाथ में हो उसे परोपकार में लगा। नर-शरीर के पश्चात इतर खानियों में बाजार-व्यापारी कोई नहीं है, लेना हो सो यहीं ले लो॥ १४॥

धर्म किये धन ना घटै, नदी न घट्टै नीर।
अपनी आंखों देखिले, यों कथि कहहिं कबीर॥ १५॥

धर्म (परोपकार, दान, सेवा) करने से धन नहीं घटता; देखो, नदी सदैव बहती रहती है, परन्तु उसका जल घटता नहीं। धर्म करके स्वयं देख लो॥ १५॥

कबीर यह तन जात है, सको तो राखु बहोर।
खाली हाथों वह गये, जिनके लाख करोर॥ १६॥

हे मनुष्यो! इस शरीर का रत्न समय बीता जाता है, हो सके तो कल्याण-साधना कर लो। जिनके लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति थी, वे भी संसार से खाली हाथ ही गये॥ १६॥

इकट्ठे कर जहां के जर, सभी मुल्कों के माली थे।
सिकन्दर जब गया दुनिया से, दोनों हाथ खाली थे॥

या दुनिया दो रोज की, मत कर यासो हेत।
गुरु चरनन चित लाइये, जो पूरन सुख हेत॥ १७॥

इस संसार का झमेला दो दिन का है, अतः इससे मोह-सम्बन्ध न जोड़ो। सद्गुरु के चरणों में मन लगाओ, जो पूर्ण सुख देने वाले हैं॥ १७॥

हस्ती चढ़िये ज्ञान की, सहज दुलीचा डार।
श्वान रूप संसार है, भूकन दे झकमार॥ १८॥

सहज स्वस्वरूप-स्थिति की कालीन डालकर ज्ञान के हस्ती पर चढ़ो। संसारी-अज्ञानी तो कुत्ते रूप हैं, उन्हें झख मारकर भूकने दो॥ १८॥

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करै, आपौ शीतल होय॥ १९॥

मन के अहंकार को मिटाकर ऐसे मीठे और नम्र वचन बोलो, जिससे दूसरे लोग सुखी हों और स्वयं भी सुखी हो॥ १९॥

जग में बैरी कोय नहीं, जो मन शीतल होय।
या आपा को डारि दे, दया करे सब कोय॥ २०॥

यदि मन शीतल हो गया, तो संसार में अपना कोई वैरी नहीं है। इस अहंकार को त्याग दो तो तुम्हारे ऊपर सब दया करेंगे॥ २०॥

कहते को कहि जान दे, गुरु की सीख तू लेय।
साकट जन और श्वान को, फेरि जवाब न देय॥ २१॥

उलटी-पलटी बात बकने वाले को बकते जाने दो, तुम तो गुरु की ही शिक्षा धारण करो। साकट (दुष्टों) तथा कुत्ता को उलटकर उत्तर न दो॥ २१॥

कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ जो कुल को हेत।
साधुपनो जाने नहीं, नाम बाप को लेत॥ २२॥

गुरु कबीर साधुओं से कहते हैं कि वहां पर मत जाओ जहां पर पूर्व के कुल-कुटुम्ब का सम्बन्ध हो' क्योंकि वे लोग आपकी साधुता के महत्त्व को नहीं जानेंगे, केवल शारीरिक पिता का नाम लेंगे "अमुक का लड़का आया है"॥ २२॥

कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ सिद्ध को गाँव।
स्वामी कहै न बैठना, फिर फिर पूछै नाँव॥ २३॥

अपने को सर्वोपरि मानने वाले अभिमानी सिद्धों के स्थान पर भी मत जाओ; क्योंकि स्वामी जी ठीक से बैठने तक की बात नहीं कहेंगे, बारम्बार नाम पूछते रहेंगे॥ २३॥

इष्ट मिले अरु मन मिले, मिले सकल रस रीति।
कहैं कबीर तहँ जाइये, यह सन्तन की प्रीति॥ २४॥

उपास्य, उपासना-पद्धति, सम्पूर्ण रीति-रिवाज और मन जहां पर मिले, वहीं पर जाना सन्तों को प्रियकर होना चाहिए॥ २४॥

कबीर संगी साधु का, दल आया भरपूर।
इन्द्रिन को तब बाँधिया, या . तन कीया धूर॥ २५॥

सन्तों के साथी विवेक-वैराग्य, दया, क्षमा, समता आदि का दल जब परिपूर्ण रूप से हृदय में आया, तब सन्तों ने इन्द्रियों को रोककर शरीर के अध्यास को धूल कर दिया॥ २५॥

आवत गारी एक है, उलटत होय अनेक।
कहैं कबीर नहिं उलटिये, वही एक की एक॥ २६॥

आते समय गाली अकेली रहती है, और उलटकर उत्तर दे देने पर अनेक हो जाती है। गुरु कबीर कहते हैं कि गाली का उत्तर न दो, तो वह आयी हुई गाली अकेली-की-अकेली ही रह जायेगी॥ २६॥

गारी मोटा ज्ञान, जो रंचक उर में जरै।
कोटि सँवारे काम, बैरि उलटि पायन परै॥ २७॥
कोटि सँवारे काम, बैरि उलटि . पायन परै।
गारी सो क्या हान, हिरदै जो यह ज्ञान धरै॥ २८॥

यदि अपने हृदय में थोड़ी भी सहनशीलता हो, तो मिली हुई गाली भारी ज्ञान है। सहन करने से करोड़ों काम सुधर जाते हैं, और शत्रु आकर पैरों पर पड़ता है॥ २७॥ यदि यह ज्ञान हृदय में आ जाय, तो मिली हुई गाली से अपनी क्या हानि है॥ २८॥

गारी ही से ऊपजै, कलह कष्ट औ मीच।
हारि चले सो सन्त है, लागि मरै सो नीच॥ २९॥

गाली से झगड़ा, सन्ताप एवं मरने-मारने तक की बात आ जाती है। इससे अपनी हार मानकर जो विरक्त हो चलता है, वह सन्त है, और (गाली-गलौज एवं झगड़े में) जो लाग मरता है, वह नीच है॥ २९॥

जैसा भोजन खाइये, तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये, तैसी बानी सोय॥ ३०॥

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' 'जैसे खाय अन्न, वैसे बने मन्न' लोक प्रचलित कहावत है। और मनुष्य जैसी संगत करके जैसे उपदेश पायेगा, वैसा ही स्वयं बात करेगा॥ ३०॥

अतएव आहार-विहार एवं संगत ठीक रखो।

बहते को मत बहन दो, कर गहि ऐचहु ठौर।
कह्यो सुन्यो मानै नहीं, शब्द कहो दुइ और॥ ३१॥

बहते हुए को मत बहने दो, हाथ पकड़कर उसको मानवता की भूमिका पर निकाल लो। यदि वह कहा-सुना न माने, तो भी निर्णय के दो वचन और सुना दो॥ ३१॥

गन्दे तू कर बन्दगी, तो पावै दीदार।
औसर मानुष जन्म का, बहुरि न बारम्बार॥ ३२॥

हे गुरु-दास! तू सद्गुरु की सेवा कर तब स्वरूप-साक्षात्कार हो सकता है। इस मनुष्य जन्म का उत्तम अवसर फिर से बारम्बार न मिलेगा॥ ३२॥

बार बार तोसों कहा, सुन रे मनुवा नीच।
बनजारे का बैल ज्यों, पैड़ा माही मीच॥ ३३॥

हे नीच मनुष्य! सुन, मैं बारम्बार तेरे से कहता हूं, जैसे व्यापारी का बैल बीच मार्ग में ही मर जाता है, वैसे तू भी अचानक एक दिन मर जायेगा॥ ३३॥

बनजारे को बैल ज्यौं, टाँड़ो उतर्‌यो आय।
एकन के दूना भया, एक चाला मूल गँवाय॥ ३४॥

जैसे व्यापारियों के बैलों का दल बाजार में आ उतरा। किसी व्यापारी ने तो दूना लाभ कमाया और किसी-किसी ने जमा भी खो दिया॥ ३४॥

भाव—अनेक जीव नर-शरीर धारणकर संसार में आये। किसी ने तो मोक्ष की कमाई कर ली और कोई नर जन्म रूप जमा खोकर चौरासी में गया।

मन राजा नायक भया, टाँड़ा लादा जाए।
है है है है है रही, पूंजी गयी बिलाय ॥ ३५ ॥

मन-राजा बड़ा भारी व्यापारी बना और जाकर विषयों का टांड़ा (बहुत सौदा) लाद लिया। भोगों-ऐश्वर्यों में लाभ है, लाभ है—लोग कह रहे हैं, परन्तु इसमें पड़कर मानवता की पूंजी भी विनष्ट हो जाती है ॥ ३५ ॥

बनिजारे के बैल ज्यों, भरमि फिर्यो चहुँदेश।
खाँड़ लादि भुस खात है, बिन सतगुरु उपदेश। ३६ ॥

सौदागरों के बैल जैसे पीठ पर शकर लादकर भी भूसा खाते हुए चारों ओर फेरी करते हैं। इसी प्रकार यथार्थ सद्गुरु के उपदेश बिना ज्ञान रखते हुए भी विषय-प्रपंचों में उलझे हुए मनुष्य नष्ट होते हैं ॥ ३६ ॥

जीवत कोय समुझै नहीं, मुवा न कह संदेश।
तन मन से परिचय नहीं, ताको क्या उपदेश ॥ ३७ ॥

शरीर रहते हुए तो कोई यथार्थ ज्ञान की बात समझता नहीं और मर जाने पर इन्हें कौन उपदेश करने जायेगा। जिसे अपने तन-मन की ही सुधि-बुधि (संयम) नहीं है, उसको क्या उपदेश किया जाय! ॥ ३७ ॥

जो कोई समझै सैन में, तासो कहिये बैन।
सैन बैन समझै नहीं, तासों कछु न कैन ॥ ३८ ॥

जो संकेत ही में समझ ले, उससे बात करनी चाहिए। जो संकेत-बात कुछ नहीं समझता, उससे कुछ मत कहो ॥ ३८ ॥

जिहि जिवरी से जग बँधा, तू जनि बँधै कबीर।
जासी आटा लौन ज्यों, सोन समान शरीर ॥ ३९ ॥

जिस भ्रम तथा मोह की रस्सी से जगत के जीव बंधे हैं, हे कल्याण-इच्छुक! तू उसमें मत बंध। नमक के बिना जैसे आटा फीका हो जाता है, वैसे सोने के समान तुम्हारा उत्तम नर-शरीर भजन बिना व्यर्थ जा रहा है ॥ ३९ ॥

जिन गुरु जैसा जानिया, तिनको तैसा लाभ।
ओसे प्यास न भागसी, जब लगि धसै न आभ ॥ ४० ॥

जिनको जैसा गुरु मिला, उनको वैसा ज्ञान प्राप्त हुआ, और उसी प्रकार उनको

कम-विशेप लाभ प्राप्त हुआ। जब तक जल में प्रविष्ट न हो, ओस चाटने से प्यास नहीं जाती। (इसी प्रकार साधारण गुरु से तृप्ति नहीं होती) ॥ ४० ॥

जिन ढूंढ़ा तिन पाइया, गहरे पानी पैठि।
जो बवरा डूबन डरा, रहा किनारे बैठि ॥ ४१ ॥

जो गहरे पानी में प्रविष्ट होकर खोजता है वह रत्नों को पाता है। जो पागल डूबने को डरता है वह किनारे ही बैठा रह जाता है ॥ ४१ ॥

जो ज्ञान-रत्न का विरही है वह परिश्रमपूर्वक सच्चे सद्गुरु की खोजकर मनवांछित फल पा लेता है। आलसी सदैव झीखता रह जाता है।

चतुराई क्या कीजिये, जो नहिं शब्द समाय।
कोटिक गुन सूवा पढ़ै, अन्त बिलाई खाय ॥ ४२ ॥

यदि मुख से कहे हुए निर्णय शब्दों का ज्ञान हृदय में नहीं समाता तो बहुत चतुराई से क्या हुआ! प्रवचन किस काम का! करोड़ों गुणों की बात सुग्गा पढ़ता है, परन्तु अन्त में उसे बिल्ली पकड़ खाती है ॥ ४२ ॥

पढ़ना गुनना चातुरी, यह तो बात सहल्ल।
काम दहन मन बस करन, गगन चढ़न मुसकल्ल ॥ ४३ ॥

बहुत पढ़ना-गुनना और चतुरता रखना—यह तो सरल बात है। आकाश पर चढ़ने के समान, मन, वचन तथा कर्म से काम को जड़ से जला देना एवं मन को पूर्ण स्ववश कर लेना ही कठिन है ॥ ४३ ॥

पढ़ि पढ़ि के पत्थर भये, लिखि लिखि भये जु ईंट।
कबीर अन्तर प्रेम की, लागी नेक न छींट ॥ ४४ ॥

गुरु कबीर कहते हैं कि लोग पढ़-पढ़ कर पत्थर और लिख-लिख कर ईंट के समान कठोर बन जाते हैं। उनके हृदय में जीव-प्रेम की किंचित छींट नहीं पड़ती (न अपना कल्याण करते हैं, न जगत का कल्याण करते हैं, केवल भोगों में पच मरते हैं) ॥ ४४ ॥

करता था तो क्यों रहा, अब करि क्यों पछिताय।
बोवे पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते खाय ॥ ४५ ॥

तू बुरा करता रहा तो सन्तों के रोकने पर भी क्यों करता रहा! अब करके

पीछे से क्यों पछताता है! बबूल का पेड़ उगाया है, तो आम खाने को कहां पायेगा! ॥ ४५ ॥

जाकी जैसी बुद्धि है, तैसी कहै बनाय।
दोष न वाको दीजिये, लेन कहाँ सो जाय॥ ४६ ॥

जिसकी जैसी बुद्धि है, वह उसी प्रकार बनाकर कहता है। उसको दोष मत दो, वह बेचारा कहां से लेने जाय! ॥ ४६ ॥

चातुर को चिन्ता घनी, नहिं मूरख को लाज।
सर अवसर जानै नहीं, पेट भरन सूँ काज॥ ४७ ॥

विचारवान को तो अपने आचरण-सुधार की ही बड़ी चिन्ता रहती है, परन्तु मूर्ख को लज्जा नहीं लगती। वह समय-असमय नहीं जानता, केवल पेट भरने से ही प्रयोजन रखता है ॥ ४७ ॥

माँगन को भल बोलनो, चोरन को भल चूप।
माली को भल बरसनो, धोबी को भल धूप॥ ४८ ॥

भिक्षा मांगने वालों को बोलना अच्छा है, चोरों को चुप रहना उत्तम है, माली को वर्षात अच्छी है, और धोबी के लिए धूप होना अच्छा है ॥ ४८ ॥

तीन ताप में ताप हैं, ताका अनंत उपाय।
ताप आतम महाबली, संत बिना नहिं जाय॥ ४९ ॥

तीन तापों में अनेकों ताप हैं, शारीरिक तापों (व्याधियों) से छूटने के लिए अनेकों उपाय भी हैं। परन्तु अपने आपकी भूल का ताप महान प्रचण्ड है, यह विवेकी सन्तों के बिना नहीं जाता ॥ ४९ ॥

हिय हीरा की कोठरी, बार बार मत खोल।
मिलै हीरा का जौहरी, तब हीरों की मोल॥ ५० ॥

हे सन्तो! ज्ञान-हीरों से पूर्ण हृदय-कोठरी को सबके सामने बारम्बार मत खोलो। जब तुम्हारे ज्ञान-हीरे का पारखी मिले, तब उसका मोल-तोल करो-कराओ ॥ ५० ॥

जहाँ न जाको गुन लहै, तहाँ न ताको ठाँव।
धोबी बस के क्या करे, दीगम्बर के गाँव॥ ५१ ॥

जहां जिसका गुण नहीं लगता, वहां उसका रहना निष्प्रयोजन है। दिगम्बरों (कपड़ा बिलकुल न पहनने वालों) के ग्राम में धोबी बसकर क्या करेगा!॥ ५१॥

अति हठ मत कर बावरे, हठ से बात न होय।
ज्यूँ ज्यूँ भींजै कामरी, त्यूँ त्यूँ भारी होय॥ ५२॥

हे पगले! अत्यन्त हठ मत कर, अनुचित हठ करने से बात नहीं बनती। जैसे कम्बल के उत्तरोत्तर भींगते जाने से वह वजनदार होता जाता है, वैसे हठ करते-करते मनुष्य जड़ हो जाता है॥ ५२॥

बालू जैसी किरकिरी, ऊजल जैसी धूप।
ऐसी मीठी कछु नहीं, जैसी मीठी चूप॥ ५३॥

बालू के सदृश अन्य में किरकिराहट नहीं, धूप के समान अन्य में उजलापन नहीं, और ऐसी मीठी कोई वस्तु नहीं है, जैसा मीठा चुप रहना है (वाक्य-संयम सुखप्रद एवं वजनदारी का लक्षण है)॥ ५३॥

रितु बसंत याचक भया, हरखि दिया द्रुम पात।
ताते नव पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात॥ ५४॥

बसंत-ऋतु ने याचना की तो वृक्षों ने हर्षित होकर अपने पुराने पत्ते दे दिये। इससे शीघ्र ही उनमें नये-नये पत्ते आ गये; सच है, दिया हुआ निष्फल नहीं जाता (बल्कि लौटकर उत्तमरूप से मिलता है)॥ ५४॥

जो जल बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥ ५५॥

यदि नाव में जल भरने लगे और घर में धन बढ़ने लगे; तो शीघ्रतापूर्वक दोनों हाथों से उसे उलीचो, यही बुद्धिमानों का काम है (अन्यथा डूब मरोगे)॥ ५५॥

काम क्रोध तृष्णा तजै, तजै मान अपमान।
सद्गुरु दाया जाहि पर, जम सिर मरदे मान॥ ५६॥

जिस पर सद्गुरु की कृपा (सत्योपदेशामृत) है, वह काम, क्रोध, तृष्णा एवं मान-अपमान को त्यागकर वासना की श्रेष्ठता का भी मद-मर्दन कर देता है॥ ५६॥

गुरुमुख शब्द प्रतीत कर, हर्ष शोक बिसराय।
दया क्षमा सत शील गहि, अमर लोक को जाय॥ ५७॥

गुरुमुख निर्णय वचनों पर विश्वास करो, संसार के हर्ष-शोक भूल जाओ, दया, क्षमा, सत्य, शीलादि को ग्रहण कर, मोक्षस्थिति में विहार करो ॥ ५७ ॥

मान अभिमान न कीजिये, कहैं कबीर पुकार।
जो सिर साधू न नमैं, सो सिर काटि उतार ॥ ५८ ॥

कबीर साहेब पुकारकर कहते हैं—मान-अभिमान मत करो। यदि तुम्हारा सिर सन्तों के समाने नहीं झुकता, तो उसको काटकर फेंक दो (मद को दूर कर दो) ॥ ५८ ॥

गुरु को पूजै गुरुमुखी, बाना पूजै साध।
षटदर्शन जो पूजही, ताकर मता अगाध ॥ ५९ ॥

गुरु-भक्त गुरु को और सन्तजन वेष को पूजते हैं, जो षटदर्शनों को भी पूज लेता है, उसका हृदय विशाल है ॥ ५९ ॥ ५५३ ॥

१६

शब्द को अंग

(इसमें निर्णय शब्दों का महत्त्व-प्रदर्शन तथा मीठे वचन की प्रशंसा की गयी है।)

शब्द बराबर धन नहीं, जो कोइ जानै बोल।
हीरा तो दामों मिले, शब्दहिं मोल न तोल॥ १॥

यदि कोई बोलने की युक्ति जाने तो शब्द के बराबर धन नहीं है। हीरा तो रुपये में बिकता है, परन्तु उत्तम शब्दों का मोल-तोल नहीं है ॥ १॥

शब्द कहै सो कीजिये, बहुतक गुरू लबार।
अपने अपने लाभ को, ठौर ठौर बटपार॥ २॥

निर्णय शब्द जो कहता है उसी के अनुसार करो, बहुत गुरु तो लबरे हैं। अपने-अपने स्वार्थ लाभ-वश जगह-जगह ठग घूमते हैं॥ २॥

भाव—गुरु-नामधारी ठगों से बचो, सच्चे सद्गुरु की शरण लो।

शब्द न करै मुलाहिजा, शब्द फिरै चहुँधार।
आपा पर जब चीन्हिया, तब गुरु शिष व्यवहार॥ ३॥

निर्णय वचन किसी के साथ पक्षपात नहीं करता, वह चहुंधार चलता है। अपना-पराया, चेतन-जड़ जब ठीक से परखने में आ जाता है, तब जानो गुरु-शिष्य का व्यवहार हुआ॥ ३॥

शब्द दुराया न दुरै, कहूँ जो ढोल बजाय।
जो जन होवै जौहरी, लेहैं सीस चढ़ाय॥ ४॥

ढोल बजाकर कहता हूं, निर्णय-वचन किसी के छिपाने (निन्दा-उपहास करने) से नहीं छिपते। जो विवेकी पारखी होगा वह निर्णय-वचनों को सादर शिरोधार्य कर लेगा॥ ४॥

शब्द शब्द सब कोई कहै, शब्द का करो विचार।
एक शब्द शीतल करै, एक शब्द दे जार॥ ५॥

शब्द-शब्द तो सब कहते हैं, परन्तु उसका विचार करो। 'शब्द-शब्द में बड़ा अन्तर है'। एक शब्द तो लोगों के मन को शीतल कर देता है और एक शब्द जला कर भस्म कर देता है ॥ ५ ॥

एक शब्द सुख खानि है, एक शब्द दुखरासि।
एक शब्द बन्धन कटे, एक शब्द गल फाँसि ॥ ६ ॥

समता के शब्द सुख की खानि हैं और विषमता के शब्द दुखों की ढेरी हैं। निर्णय के शब्दों से विषय-बन्धन कटते हैं और मोह-माया के शब्द गले की फांसी हो जाते हैं ॥ ६ ॥

खोजी हुआ शब्द का, धन्य सन्त जन सोय।
कहैं कबीर गहि शब्द को, कबहुँ न जाय बिगोय ॥ ७ ॥

गुरु कबीर कहते हैं कि जो निर्णय-वचनों का खोजी है वह सन्त धन्य है। जो निर्णय-शब्द धारण करता है, वह कभी पतित नहीं होता ॥ ७ ॥

सीखै सुनै विचार ले, ताहि शब्द सुख देय।
बिना समझै शब्द गहै, कछु न लहा लेय ॥ ८ ॥

जो निर्णय-शब्दों को सीखता, सुनता और विचारता है, उसको शब्द सुख देते हैं। यदि बिना समझे कोई शब्द रट ले, तो कोई लाभ नहीं पाता ॥ ८ ॥

यही बड़ाई शब्द की, जैसे चुम्बक भाय।
बिना शब्द नहिं ऊबरे, केता करे उपाय ॥ ९ ॥

हे भाई! निर्णय-शब्दों की चुम्बक-जैसी बड़ाई है (जैसे चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींच लेता है, वैसे निर्णय-शब्द मुमुक्षु को माया से निकालकर सत्य की ओर खींच लेता है) कितना ही उपाय करे बिना निर्णय-शब्दों के पाये जीव भवसागर तर नहीं सकता ॥ ९ ॥

काल फिरै सिर उपरै, जीवहिं नजरि न आय।
कहैं कबीर गुरु शब्द गहि, जम से जीव बचाय ॥ १० ॥

सिर के ऊपर काल मड़लाता है, परन्तु अविवेकी मनुष्य देख नहीं पाता। कबीर साहेब कहते हैं कि गुरु के निर्णय-शब्दों को पकड़ो और कुवासनाओं से जीव को बचाओ ॥ १० ॥

सन्त सन्तोषी सर्वदा, शब्दहिं भेद विचार।
सतगुरु के परताप से, सहज शील मत सार॥ ११॥

सार-शब्दों का रहस्य विचारकर सन्त सदैव सन्तोषी बने रहते हैं। गुरु-प्रताप से वे सहज ही शील-सार मत धारण करते हैं॥ ११॥

शीतल शब्द उचारिये, अहं आनिये नाहिं।
तेरा प्रीतम तुझहि में, दुसमन भी तुझ माहिं॥ १२॥

सदैव शीतल वाणी बोलो, मन में अहंकार न लाओ। तुम्हारे प्रियतम (सद्गुण) भी तुम्हारे घट भीतर हैं, और शत्रु (दुर्गुण) भी तुम्हारे ही मन में विराजमान हैं॥ १२॥

हरिजन सोई जानिये, जिह्वा कहैं न मार।
आठ पहर चितवत रहै, गुरु का ज्ञान विचार॥ १३॥

हरिजन उसी को जानो जो अपनी जीभ से भी नहीं कहता कि 'मारो'। बल्कि आठों पहर गुरु के ज्ञान-विचार ही में मन रखता है॥ १३॥

टीला टीली ढाहि के, फोरि करै मैदान।
समझ सफा करता चला, सोई शब्द निर्बान॥ १४॥

जो ऊंच-नीच का भेद-भाव मिटाकर और सब अहंकारों को फोड़-तोड़ कर समता कर देते हैं और बुद्धि को सदैव शुद्ध करते चलते हैं, वे ही मोक्षदायी निर्णय शब्द हैं॥ १४॥

कुबुधि कमानी चढ़ि रही, कुटिल वचन के तीर।
भरि भरि मारे कान में, सालै सकल सरीर॥ १५॥

(दुष्ट लोग) कुबुद्धि रूपी धनुष पर दुर्वचन रूपी तीर चढ़ाकर और तान-तानकर सबके कानों में मारते हैं, और वे हृदय में प्रविष्ट होकर सारे शरीर को पीड़ा पहुंचाते है॥ १५॥

कुटिल वचन सबते बुरा, जारि करे सब छार।
साधु वचन जल रूप है, बरसै अमृत धार॥ १६॥

टेढ़े वचन सबसे बुरे होते हैं, वे जलाकर राख कर देते हैं, परन्तु सन्तों के वचन शीतल जलमय हैं, जो अमृत की धारा बनकर बरसते हैं॥ १६॥

करक गड़न दुरजन वचन, रहै सन्त जन टारि।
बिजुली परै समुद्र में, कहा सकेगी जारि॥ १७॥

गड़कर भीतर में टूट जाने वाले कांटे की पीड़ा के समान दुष्टों के वचन होते हैं; परन्तु सन्तजन उनको भी तृणवत हटा देते हैं। यदि समुद्र में बिजली गिरे, तो वह क्या जलायेगी!॥ १७॥

कुटिल बचन नहिं बोलिये, शीतल बैन ले चीन्हि।
गंगाजल शीतल भया, परबत फोड़ा तीन्हि॥ १८॥

टेढ़े वचन न बोलो, शीतल वचनों को परखो और वही प्रयोग में लाओ। देखो! उत्तम गंगाजल शीतल है, परन्तु उसने पर्वत फोड़कर अपना मार्ग बना लिया (वैसे मीठे वचनों से तुम अपना कार्य सिद्ध कर लोगे)॥ १८॥

शीतलता तब जानिये, समता रहै समाय।
बिस छोड़े निरबिस रहै, सब दिन दूखा जाय॥ १९॥

शीतलता आयी तब जानो जब अपने तन, मन तथा वचन के समस्त आचरण समता में समाहित हो जायं। चाहे सब दिन दुखों में ही जायं, परन्तु ऐसा पुरुष अहंकार का आचरण त्यागकर सदैव शीतल ही बना रहता है॥ १९॥

खोद खाद धरती सहै, काट कूट बनराय।
कुटिल बचन साधू सहै, और से सहा न जाय॥ २०॥

खोद-खाद पृथ्वी सहती है, काट-कूट जंगल सहता है और कठोर वचन सन्त सहते हैं, दूसरे से नहीं सहा जा सकता॥ २०॥

जिह्वा में अमृत बसै, जो कोई जानै बोल।
विष बासुकि का ऊतरै, जिह्वा तनै हिलोल॥ २१॥

जिह्वा की मीठी बोली में तो अमृत बसता है, परन्तु यदि कोई बोलना जाने तो। जिह्वा के पुत्र रूपी मीठे वचनों से सर्प-जैसे भयंकर मनुष्य का अहंकार रूपी विष भी उतर जाता है॥ २१॥

मुख आवै सोई कहै, बोलै नहीं विचार।
हते पराई आत्मा, जीभ बाँधि तरवार॥ २२॥

कितने लोग तो जो मुख में आया मशीन जैसे झोंकते जाते हैं; वे विचारकर नहीं बोलते। वे अपनी जिह्वा में कठोर वचनरूपी तलवार बांधकर परायी आत्मा को कष्ट देते रहते हैं॥ २२॥

बोलै बोल विचारि के, बैठे ठौर सँभारि।
कहैं कबीर ता दास को, कबहु न आवै हारि॥ २३॥

जो विचारपूर्वक बोलता है और सम्हालकर उचित स्थान पर बैठता है गुरु कबीर कहते हैं कि ऐसा सज्जन कहीं से नीचा देखकर नहीं आता॥ २३॥

जंत्र मंत्र सब झूठ है, मत भरमो जग कोय।
सार शब्द जानै बिना, कागा हँस न होय॥ २४॥

यन्त्र-मन्त्र, टोना-टामर सब झूठ हैं, इनमें कोई मत भ्रमो। निर्णय वचनों के ज्ञान बिना कागा हंस नहीं होता॥ २४॥

शब्द सम्हारे बोलिये, शब्द के हाथ न पाँव।
एक शब्द औषधि करे, एक शब्द करे घाव॥ २५॥

शब्द सम्हालकर बोलो। यद्यपि शब्द के हाथ-पैर नहीं होते, परन्तु एक शब्द औषध करने वाला अमृतकर होता है और एक शब्द घाव बनाने वाला कष्टकर होता है ॥ २५॥

शब्द जु ऐसा बोलिये, तन का आपा खोय।
औरन को शीतल करे, आपन को सुख होय॥ २६॥

शरीर के अहंकार छोड़कर शब्द बोलो। इसमें आपको शीतलता मिलेगी, अन्य को भी सुख प्राप्त होगा॥ २६॥

जेहि शब्दे दुख न लगे, सोई शब्द उचार।
तपत मिटी शीतल भया, सोइ शब्द ततसार॥ २७॥

जिस शब्द के बोलने से किसी को कष्ट न प्रतीत हो, वही शब्द उच्चारण करो। जिससे तपता हुआ मन सदा के लिए शीतल हो जाय, वही शब्द निर्णयपूर्ण है॥ २७॥

कागा काको धन हरै, कोयल काको देत।
मीठा शब्द सुनाय के, जग अपनो करि लेत॥ २८॥

कौआ किसका धन हरण करता है और कोयल किसको क्या देती है! केवल मीठा शब्द सुनाकर जगत को अपना बना लेती है॥ २८॥

जिभ्या जिन बस में करी, तिन बस कियो जहान।
नहिं तो औगुन ऊपजै, कहि सब सन्त सुजान॥ २९॥

जिन्होंने अपनी जिह्वा को अपने अधीन कर लिया उन्होंने मानो संसार को वश में कर लिया। अन्यथा जिह्वा स्ववश न करने से शरीर में अवगुण उत्पन्न होगा, ऐसा सभी विवेकी संत कह गये हैं॥ २९॥ ५८२॥

१७

सती को अंग

(सती, शूर और सन्तों की विशेषता एवं दृढ़ता का इसमें वर्णन है)

सती डिगै तो नीच घर, सूर डिगै तो क्रूर।
साधु डिगै तो सिखर तै, गिरि भय चकनाचूर॥ १॥

अपने पद से यदि सती डिग जाय तो नीच आचरण वालों के घर में जाती है, शूर डिगेगा तो क्रूर खानि में जायेगा और यदि साधुता के शिखर से साधु डगमगायेगा तो गिरकर चकनाचूर हो जायेगा॥ १॥

साधु सती औ सूरमा, इनका मता अगाध।
आशा छाड़े देह की, तिनमें अधिका साध॥ २॥

शूर, सती और सन्त—इनका मत अगम्य है। ये तीनों शरीर की आशा छोड़ देते हैं, तिनमें सन्त जन अधिक निश्चय वाले होते हैं॥ २॥

साधु सती और सूरमा, ज्ञानी औ गज दन्त।
ते निकसे नहिं बाहुरे, जो जुग जाहिं अनन्त॥ ३॥

साधु, सती, शूरवीर, ज्ञानी और हाथी के दांत—ये एक बार बाहर निकलकर नहीं लौटते; चाहे अनन्तों युग बीत जायं॥ ३॥

साधु सती और सूरमा, कबहु न फेरे पीठ।
तीनों निकसी बाहुरे, तिनका मुख नहिं दीठ॥ ४॥

सन्त, सती और शूरवीर, कभी पीठ नहीं दिखाते। तीनों एक बार निकलकर यदि लौट आयें, तो इनका मुख नहीं देखना चाहिए॥ ४॥

साधु सती औ सूरमा, इन पटतर कोइ नाहिं।
अगम पन्थ को पग धरै, गिरि तो कहाँ समाहिं॥ ५॥

साधु, सती और शूरवीर—इनके पटतर में कोई नहीं है। ये दुर्गम-मार्ग में पैर रखते हैं, यदि ये अपने पद से पतित हो गये, तो इनका कहां ठिकाना है!॥ ५॥

सती चमाके अगिन सूँ, सूरा सीस डुलाय।
साधु जो चूकै टेक सो, तीन लोक अथड़ाय॥ ६॥

यदि सती चिता पर बैठकर एवं आग की आंच देखकर देह चमकावे और शूरवीर संग्राम से अपना सिर हिलावे तथा साधु अपनी साधुता की निश्चयता से चूक जाय—तो ये तीनों इस लोक में डामाडोल कहलाते हैं॥ ६॥

ये तीनों उलटे बुरे, साधु सती औ सूर।
जग में हाँसी होयगी, मुख पर रहै न नूर॥ ७॥

साधु, सती और शूर—ये तीनों लौट आने से बुरे कहलाते हैं। जगत में इनकी हंसी होती है और मुख पर प्रकाश नहीं रहता ॥ ७॥ ५८९॥

१८

स्वारथ को अंग

(संसार स्वार्थी है, अतः इससे विरक्त होकर ही अपना कल्याण होगा।)

स्वारथ का सब कोई सगा, सारा ही जग जान।
बिन स्वारथ आदर करे, सो नर चतुर सुजान॥ १॥

स्वार्थ के ही सब मित्र हैं, सारे संसार की यही दशा समझ लो। बिना स्वार्थ के जो आदर करता है, वही मनुष्य विचारवान तथा बुद्धिमान है॥ १॥

स्वारथ कूँ स्वारथ मिले, पड़ि पड़ि लूँबायूँब।
निस्प्रेही निरधार को, कोई ना राखै झूँब॥ २॥

स्वार्थी-स्वार्थी लम्बे पड़-पड़ एवं झुक-झुककर मिलते हैं। जगत-कामना-त्यागी निराधार पुरुष का कोई (स्वार्थी जन) वचन से भी आदर नहीं करता॥ २॥

संसारी से प्रीतड़ी, सरै न एको काम।
दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम॥ ३॥

संसारियों से प्रेम जोड़ने से कल्याण का एक काम भी नहीं बनेगा। दुविधा में तुम्हारे दोनों चले जायंगे, न माया हाथ लगेगी न स्वरूपस्थिति होगी (अतः जगत से निराश होकर अखण्ड वैराग्य करो)॥ ३॥ ५९२॥

१९

परमारथ को अंग

(परमार्थ कहते हैं सत्य को, सत्य की स्थिति के लिए
जितने सत्याचरण किये जाते हैं, सब परमार्थ हैं।
परमार्थ का अर्थ परम प्रयोजन भी है।
दुख-निवृत्ति एवं स्वरूपस्थिति की
प्राप्ति ही परम प्रयोजन
है, यही परमार्थ
है।)

परमारथ पाको रतन, कबहुं न दीजै पीठ।
स्वारथ सेमल फूल है, कली अपूठी पीठ॥ १॥

परमार्थ उत्तम रत्न है, इससे कभी पीठ न दो। स्वार्थ तो सेमल फूल-सदृश सार-सुगन्धहीन है; जिसकी कली कच्ची और उलटी अपनी ओर खिलती है॥ १॥

मरूं पर- मागूँ नहीं, अपने तन के काज।
परमारथ के कारने, मोहिं न आवै लाज॥ २॥

मर जाऊं, परन्तु अपने शरीर के स्वार्थ के लिए नहीं मागूंगा। किन्तु परमार्थ के लिए मांगने में मुझे लज्जा नहीं लगती॥ २॥

प्रीति रीति सब अर्थ की, परमारथ की नाहिं।
कहैं कबीर परमारथी, बिरला कोइ कलि माहिं॥ ३॥

संसार के सारे प्रेम-व्यवहार धन के लिए हैं, परमार्थ के लिए नहीं। गुरु कबीर कहते हैं कि इस भौतिक युग में तो बिरला ही कोई परमार्थी होगा॥ ३॥

सुख के संगी स्वारथी, दुख में रहते दूर।
कहैं कबीर परमारथी, दुख सुख सदा हजूर॥ ४॥

संसार के सब स्वार्थी सुख के संगी हैं, वे दुख आने पर दूर हो जाते हैं। परन्तु परमार्थी जन दुख-सुख सब समय में साथ देते हैं ॥ ४ ॥

जो कोइ करे सो स्वारथी, अरस परस गुनदेत।
बिन किय करै सो सूरमा, परमारथ के हेत ॥ ५ ॥

जो कोई परस्पर लेता-देता है, सब स्वार्थ के गुण हैं। एक ओर से बिना कुछ भलाई किये ही दूसरी ओर से जो कोई भलाई करता है, वह परमार्थ के लिए करने वाला शूरवीर है ॥ ५ ॥

स्वारथ सूखा लाकड़ा, छाँह विहूना सूल।
पीपल परमारथ भजो, सुखसागर को मूल ॥ ६ ॥

स्वार्थासक्ति तो बिना छाया के सूखी लकड़ी है और सदैव संताप देने वाली है। परमार्थ पीपल-वृक्ष के समान छायादार, सुख का समुद्र एवं कल्याण की जड़ है; अतः परमर्थ का ही सेवन करो ॥ ६ ॥

धन रहै न जोवन रहै, रहै न गाँम न ठाँम।
कबीर जग में जस रहै, करिदे किसी का काम ॥ ७ ॥

अन्त में न धन रहेगा, न जवानी रहेगी और न स्थान-मकान ही रहेंगे। गुरु कबीर कहते हैं कि जगत में केवल यश रहेगा, अतः किसी की भलाई करते चलो ॥ ७ ॥ ५९९ ॥

२०

विपर्यय को अंग

(इस प्रसंग में उलटवांसियां कही गयी हैं, जो समझ जाने पर सीधी हैं।)

साँझ पड़ी दिन ढल गया, बाघिन घेरी गाय।
गाय बिचारी न मरी, बाघ न भूखी जाय॥ १॥

जीवन रूपी दिन ढल गया और अन्तिम अवस्था रूपी सन्ध्या आ गयी, मृत्यु रूपी सिंहनी ने देहाध्यासी जीव रूपी गाय को घेर लिया। अविनाशी होने से जीव रूपी गाय नहीं मरती; परन्तु मृत्यु रूपी सिंहनी भूखी भी नहीं जाती (जीव और शरीर का वियोग करा देती है)॥ १॥

घर जारे घर ऊबरे, घर राखे घर जाय।
एक अचंभा देखिया, मुवा काल को खाय॥ २॥

अहन्ता-ममता रूपी घर को ज्ञानाग्नि से जला देने पर स्वरूपस्थिति रूपी घर बच जाता है, और अहन्ता-ममता रूपी घर रखने से स्थिति-घर नष्ट होता है! मैंने एक आश्चर्य देखा कि संसारासक्ति से मरा हुआ मन मौत पर विजय प्राप्त कर लिया। (मन मरने पर अमरता प्राप्त होती है) ॥ २॥

तिल समान तो गाय है, बछड़ा नौ नौ हाथ।
मटकी भरि भरि दुहि लिया, पूँछ अठारह हाथ॥ ३॥

गायत्री या वाणी रूपी गाय छोटी-सी है, उसके व्याकरण रूपी बछड़े नौ-नौ हाथ के हैं। काव्य-कोष रूपी मटकी में वाणी रूपी दूध को भर-भर कर लोग दुह लिये हैं, और पूजा के लिए पूंछ अठारह पुराण फैले हुए हैं॥ ३॥

झाल उठी झोली जली, खपरा फूटम फूट।
योगी था सो रमि गया, आसन रही भभूत॥ ४॥

काल की आग उठी और शरीर रूपी झोली जल गयी और खोपड़ी-हड्डी रूपी खपड़े टूट-फूट गये। जीव योगी था वह रम गया, आसन (चिता) पर केवल राख पड़ी है॥ ४॥

आग जु लागी नीर में, कादौं जरिया झार।
उत्तर दिसि का पण्डिता, रहा विचार विचार॥ ५॥

विवेकियों के अन्तःकरण रूपी जलाशय में ज्ञान की अग्नि लगी, और कामादिक समस्त कीचड़ जल-बल कर साफ हो गये (तथा ज्ञानी जीवन्मुक्त हो गया)। परन्तु उत्तरायण में शरीर छोड़कर मुक्ति पाने की आशा में पण्डित लोग पोथी ही विचारते-विचारते रह गये (कुछ न कर सके) ॥ ५ ॥

आहेरी दौं लाइया, मिरग पुकारे रोय।
जा बन में की लाकड़ी, दाझत है बन सोय॥ ६॥

वंचक गुरु रूपी शिकारी ने संसार-वन में कल्पना की आग लगायी, अज्ञानी जीव रूपी पशु रो-रोकर कल्पित पति को पुकारने लगे। जिस वन की लकड़ी है (स्वयं जलकर) उसी वन को जला रही है (एक मनुष्य स्वयं भ्रमिक बन दूसरे को भ्रम में डालकर भ्रमा रहे हैं) ॥ ६ ॥

नदिया जल कोइला भई, समुन्दर लागी आग।
मच्छी बिरछा चढ़ि गई, उठ कबीरा जाग॥ ७॥

हृदय-सागर में ज्ञान की आग लग गयी और इंद्रिय रूपी नदी-नाले के विकार जलकर राख हो गये और मन-मछली स्वरूपस्थिति-वृक्ष पर चढ़कर आनंदमग्न हो गयी। हे जीव, तुम भी जागो, उठो ॥ ७ ॥

जिहि सर घड़ा न डूबता, मैगल मलि मलि नहाय।
देवल बूड़ा कलस सो, पंछि पियासा जाय॥ ८॥

जिस सत्संग-सरोवर में वृत्ति रूपी घड़ा नहीं डूबता था, उसमें अब मन-मस्ताना मल-मल कर निमज्जन करने लगा। स्वरूप-ज्ञान रूपी कलश भर पानी से शरीर रूपी देवालय डूब गया (स्वरूप-ज्ञान में शरीर तरबतर हो गया); परन्तु पामर जीवरूपी पक्षी ज्ञान-जल के बिना प्यासे ही चले जाते हैं ॥ ८ ॥

चोर भरोसे साहु के, लाया वस्तु चोराय।
पहले बाँधो साहु को, चोर आप बँधि जाय॥ ९॥

मन रूपी चोर साहु रूपी जीव की सत्ता से ही विषय-वासना रूपी वस्तु को चुरा लाता है। अतएव पहले साहु (अपने आप) को सम्हालो, फिर मन स्वयं रुक जायेगा ॥ ९ ॥

भँवरा बारी परिहरा, मेवा बिलमा जाय।
बावन चन्दन घर किया, भूलि गया बनराय॥ १०॥

ज्ञान होने पर मन-भंवरा विषय-बाग को त्यागकर सद्‌गुण रूपी मेवे के बाग में जाकर रम गया, स्वरूपज्ञान रूपी छोटे चन्दन-वृक्ष में स्थिति किया और विस्तृत जगत-जंगल को भूल गया॥ १०॥

सूम सदा ही उद्धरे, दाता जाय नरक्क।
कहँ कबीर यह साखि सुनि, मति कोइ जाव सरक्क॥ ११॥

वीर्य को एकदम न खर्च करने वाला सूम तो उद्धार पाता है और वीर्य का दान करने वाला दाता नरक में जाता है। इस साखी का अर्थ ठीक से सुनो-समझो, विषय में मत पतित होओ॥ ११॥

बैसन्दर जाड़े मरे, पानी मरे पियास।
भोजन तो भूखा मरे, पाथर मरे हगास॥ १२॥

कामाग्नि में पड़े हुए जीव जड़ाध्यास में मरते हैं। वीर्य रूपी पानी का सिंचन करने वाले विषय-प्यास में मरते हैं, भोग रूपी भोजन को खाने वाले तृष्णा की भूख से मरते हैं और पत्थर सदृश कठोर-हृदय वाले अहंकारी-ईर्ष्यालु मनुष्य परदोष-दर्शन एवं पर-निन्दा रूपी बीट कर-कर के मरते हैं॥ १२॥

कबीर उलटा ज्ञान का, कैसे करूँ विचार।
अस्थिर बैठा पन्थ कटै, चला चली नहिं पार॥ १३॥

हे मनुष्यो! उलटे ज्ञान का विचार कैसे किया जाय, सुनो! जो स्थिरतापूर्वक स्वरूप में शांत हो जाता है उसका मार्ग समाप्त होकर वह ध्येय-धाम को पहुंच जाता है, और बाह्य तृष्णा-वश रात-दिन भोगों में भ्रमने वाला पन्थ का पार नहीं पाता॥ १३॥

घटी बढ़ी जाने नहीं, मन में राखै जीत।
गाड़र लड़ै गयन्द सो, देखो उलटी रीत॥ १४॥

सामान्यज्ञान और विशेषज्ञान का भेद जानते नहीं, तुच्छ विवादी लोग केवल अपनी जीत की भावना ही मन में रखते हैं। मताभिमानी, बकवासी, तुच्छ मनुष्यरूपी भेड़ धीरवान ज्ञानी रूपी मस्त हस्ती से लड़ता है—यह उलटा व्यवहार तो देखो॥ १४॥

माता मूये एक फल, पिता मुये फल चार।
भाई मूये हानि है, कहैं कबीर विचार॥ १५॥

कबीर साहेब विचारपूर्वक कहते हैं कि ममता रूपी माता के मर जाने से निर्बन्धता का एक महान फल है और अहंकार रूपी पिता के मर जाने से अर्थ-धर्मादि चारों फलों की प्राप्ति होती है; परन्तु भाव रूपी भाई के मरने से कल्याण की हानि है॥ १५॥

ऊनै आई बादरी, बरसन लगा अँगार।
उठि कबीरा धाह दै, दाझत है संसार॥ १६॥

अज्ञान की बदली ने जीव को घेर लिया और काम-कल्पना रूपी अंगार बरसने लगे। हे जीव! चिल्लाकर रोते हुए पुकार कर कि 'संसार जल रहा है'॥ १६॥

हम जाये ते भी मुवा, हम भी चालनहार।
हमरे पीछे पूँगरा, तिन भी बाँधा भार॥ १७॥
साथी हमरे चलि गये, हम भी चालनहार।
कागद में बाकी रही, ताते लागी बार॥ १८॥

हमारे शरीर को उत्पन्न करने वाले मर गये, हमारा शरीर भी (आज-कल में) जाने वाला है। हमारे पीछे जो समूह है, वह भी अपने कर्मों की गठरी बांधकर तैयार है॥ १७॥ हमारे साथी चले गये, हम भी अब चलने वाले हैं। अभी प्रारब्ध-भोग में कुछ शेष है, इससे थोड़ा विलम्ब हो रहा है॥ १८॥ ६१७॥

२१

मन को अंग

(इस प्रसंग में मन का स्वरूप तथा उसे वश में करने के उपाय बताये गये हैं।)

कबीर मन तो एक है, भावै तहाँ लगाव।
भावै गुरु की भक्ति करु, भावै विषय कमाव॥ १॥

गुरु कबीर कहते हैं कि मन तो एक है, जहां अच्छा लगे वहां लगाओ। चाहे गुरु की भक्ति करो, चाहे विषय-विकार की कमाई करो॥ १॥

कबीर यह मन लालची, समझै नहीं गँवार।
भजन करन को आलसी, खाने को तैयार॥ २॥

यह मन लालची और मूर्ख है, सत्य को समझता नहीं। भजन करने में आलस्य प्रकट करता है और तीनों समय खाने के लिए तैयार रहता है॥ २॥

कबीर मनहिं गयन्द है, अंकुश दै दै राखु।
विष की बेली परिहरो, अमृत का फल चाखु॥ ३॥

मन मस्ताना हाथी है, इसे ज्ञानांकुश दे-देकर स्ववश रखो और विषय-विष-लता को त्यागकर स्वरूप-ज्ञानामृत का शांति फल चखो॥ ३॥

कबीर बैरी सबल है, एक जीव रिपु पाँच।
अपने अपने स्वाद को, बहुत नचावैं नाच॥ ४॥

एक जीव के पीछे पांच ज्ञान-इन्द्रिय रूपी प्रबल वैरी लगे हैं। ये अपने-अपने स्वाद के लिए जीव को बहुत नाच नचाते हैं॥ ४॥

मन के मते न चालिये, मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार है, सो साधू कोइ एक॥ ५॥

मन के मत में न चलो, क्योंकि मन के अनेकों मत हैं। जो मन को सदैव अपने अधीन रखता है, वह कोई बिरला साधु है॥ ५॥

मन पाँचों के वश पड़ा, मन के वश नहिं पाँच।
जित देखूँ तित दौं लगी, जित भागूँ तित आँच॥ ६॥

यह मन पांचों इन्द्रियों या पांचों विषयों के वश में पड़ा है, परन्तु मन के वश में ये पांचों नहीं हैं। जहां देखता हूं वहां विषय की अग्नि लगी है, जहां भागकर जाता हूं, वहां आंच लगती है॥ ६॥

मन के मारे वन गये, वन तजि बस्ती माहिं।
कहैं कबीर क्या कीजिये, यह मन ठहरै नाहिं॥ ७॥

मन की चंचलता को रोकने के लिए वन में गये, वहां जब नहीं शांत हुआ, तब पुनः बस्ती में आ गये। गुरु कबीर कहते हैं कि जब तक मन शांत न होगा तब तक तुम क्या कल्याण करोगे! ॥ ७॥

मन मुरीद संसार है, गुरु मुरीद कोइ साध।
जो माने गुरु वचन को, ताका मता अगाध॥ ८॥

संसार के सब लोग मन के दास हैं, गुरु के दास तो कोई सन्त ही होते हैं। जो गुरु के ज्ञान-वचन को मानता है, उसका मत अथाह है॥ ८॥

मन को मारूँ पटकि के, टूक टूक ह्वै जाय।
विष की क्यारी बोय के, लुनता क्यों पछिताय॥ ९॥

जो चाहता है कि मन को पटककर ऐसा मारूं कि वह चकनाचूर हो जाय। विष की क्यारी बोकर अब उसे भोगने में क्यों पश्चाताप करता है!॥ ९॥

मन ही को परमोधिये, मन ही को उपदेश।
जो यह मन को बसि करै, सीष होय सब देश॥ १०॥

(अन्य को स्ववश करने की आशा त्यागकर) मन को ही प्रबोध-उपदेश करो। जो अपने मन को स्ववश कर लेता है, मानो उसका शिष्य सारा संसार हो गया॥ १०॥

मन गोरख मन गोविंद, मन ही औघड़ सोय।
जो मन राखै जतन करि, आपै करता होय॥ ११॥

मन की दृढ़ता से ही लोग गोरख-जैसे योगी बन जाते हैं, मन के पुरुषार्थ से ही मनुष्य भगवान कहलाता है, मन को बिगाड़कर लोग औघड़ बन जाते हैं, यत्न पूर्वक जो मन को स्ववश रखता है, वह स्वयं ईश्वर है॥ ११॥

मन मोटा मन पातरा, मन पानी मन लाय।
मन के जैसी ऊपजै, तैसी ही ह्वै जाय॥ १२॥

मन ही कहीं अहंकारी बनता है, कहीं निर्मानी बनता है, कहीं शीतल बन जाता है और कहीं आग के समान क्रोधी भी बन जाता है। हृदय में जैसी भावना उत्पन्न होती है, वैसा ही मन हो जाता है॥ १२॥

मन दाता मन लालची, मन राजा मन रंक।
जो यह मन गुरु सों मिलै, तो गुरु मिलै निसंक॥ १३॥

यह मन ही शुद्धि-अशुद्धि भेद से दाता-लालची, उदार-कंजूस बनता है। यदि यह मन निष्कपट होकर गुरु से मिले तो उसे निस्सन्देह गुरु-पद मिल जाय॥ १३॥

मन के बहुतक रंग हैं, छिन छिन बदले सोय।
एक रंग में जो रहै, ऐसा बिरला कोय॥ १४॥

मन की अनेक भावनाएं हैं, जो क्षण-क्षण बदलती रहती हैं। जो सदैव एक ज्ञान की ही भावना में रहता है, ऐसा कोई बिरला पुरुष है॥ १४॥

मनुवा तो पंछी भया, उड़ि के चला अकास।
ऊपर ही ते गिरि पड़ा, मन माया के पास॥ १५॥

यह मन तो पक्षी होकर भावना-आकाश में उड़ चला; और ऊपर से ही आकर यह मन, माया के निकट गिर पड़ा॥ १५॥

मन पंछी तब लग उड़ै, विषय वासना माहिं।
ज्ञान बाज के झपट में, जब लगि आवै नाहिं॥ १६॥

यह मन-पक्षी विषय-वासनाओं में तभी तक उड़ता है, जब तक ज्ञान रूपी बाज के चंगुल में नहीं आता॥ १६॥

मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।
कहैं कबीर गुरु पाइये, मन ही के परतीत॥ १७॥

मन के हार खाने से हार हो जाती है, और मन के विजयी होने से विजय होती है (साहस अद्भुत वस्तु है)। मन के दृढ़ श्रद्धा-विश्वास से ही यथार्थ गुरु मिलते हैं (जो जीवन-नैया के खेवैया हैं) ॥ १७॥

मनवा तो फूला फिरै, कहै जो करूँ धरम।
कोटि करम सिर पै चढ़े, चेति न देखे मरम॥ १८॥

(आडम्बरों में फंसकर) मन फूला-फूला फिरता है कि मैं धर्म करता हूं। करोड़ों कर्म-जाल इसके सिर पर चढ़े हैं, सावधान होकर अपनी करनी का रहस्य नहीं देखता ॥ १८॥

मन नहिं मारा करि सका, न तन पाँच प्रहारि।
सील साँच सरधा नहीं, अजहूँ इन्द्रि उघारि॥ १९॥

मन को मारकर उसे स्ववश न कर सका, न शरीरस्थ पंच ज्ञान इन्द्रियों (आंख, नाक, कान, जिह्वा तथा त्वचा) का ही दमन कर पाया। न शील है न सत्यता है और न गुरुजनों में श्रद्धा है; आज भी इसकी इन्द्रियां नंगी हैं (स्ववश नहीं हैं)॥ १९॥

मन की घाली हूँ गयी, मन की घालि जाउँ।
सँग जो परी कुसंग के, हाटै हाट बिकाउँ॥ २०॥

मन के द्वारा पतित होकर पहले चौरासी में भ्रमा हूं, और मन के द्वारा भ्रम में पड़कर अब भी भ्रम रहा हूं। कुसंगी मन-इन्द्रियों की संगत में पड़कर चौरासी-बाजार में बिक रहा हूं॥ २०॥

मना मनोरथ छाड़ि दे, तेरा किया न होय।
पानी में घी नीकसै, रूखा खाय न कोय॥ २१॥

हे मन! अनेक महत्त्वाकांक्षाएं छोड़ दे, तेरी की हुई कामनाएं पूरी नहीं होंगी। यदि जल मथने से घी निकल आवे, तो रूखी रोटी कोई न खाय॥ २१॥

महमंता मन मारि ले, घट ही माहीं घेर।
जबही चालै पीठ दै, आँकुस दै दै फेर॥ २२॥

अन्तःकरण ही में घेर-घेरकर उन्मत्त मन को मार लो। वह जभी भागकर चले, तभी ज्ञानांकुश दे-देकर फेर लो॥ २२॥

मन मनसा को मारि के, नन्हा करि ले पीस।
तब सुख पावै सुन्दरी, पदुमा झलके सीस॥ २३॥

मन तथा इच्छाओं को मारकर तथा दमन कर सूक्ष्म कर लो, तब वृत्ति सुख पायेगी और इसके सिर पर सौभाग्य का प्रकाश होगा॥ २३॥

मन मनसा जब जायगी, तब आवैगी और।
जबही निहचल होयगा, तब पावैगा ठौर॥ २४॥

मन और मन की इच्छाएं जब मिट जायेंगी, तब विलक्षण स्थिति (जीवन्मुक्ति) की प्राप्ति होगी। जैसे ही मन स्थिर हुआ, वैसे ही शांति की प्राप्ति हुई—यह नियम है॥ २४॥

यह मन नीचा मूल है, नीचा कर्म सुहाय।
अमृत छाड़ै मान करि, विषहिं प्रीति करि खाय॥ २५॥

इस मन की जड़ अधम विषय-वासनाएं हैं, इसी से इसे अधम-कर्म (काम-क्रोधादि) ही प्रिय लगते हैं। आदर-सम्मान से प्राप्त हुआ अमृत (सत्संग-ज्ञान) को तो त्यागता है और प्रीतिपूर्वक अधम विषयों का सेवन करता है॥ २६॥

जेती लहर समुद्र की, तेती मन की दौर।
सहजै हीरा नीपजै, जो मन आवै ठौर॥ २६॥

समुद्र की जितनी तरगें हैं, उससे अधिक मन की चंचलताएं हैं। यदि मन अपने आप में शान्त हो जाय, तो सहज ही ज्ञान-हीरे की प्राप्ति हो जाय॥ २६॥

दौड़त दौड़त दौड़िया, जेती मन की दौर।
दौड़ि थके मन थिर भया, वस्तु ठौर की ठौर॥ २७॥

जहां तक मन की कल्पनाएं थीं, वहां तक खूब दौड़ा। जब दौड़ करके थका और शान्त हुआ, तब यह प्रतीत हुआ कि जिसके लिए दौड़ता था, वह वस्तु पास-की-पास ही में है॥ २७॥

भाव—अपना चेतन स्वरूप नित्य प्राप्त स्वस्वरूप ही है। बाहर खोजने नहीं जाना है।

पहिले यह मन काग था, करता जीवन घात।
अब तो मन हंसा भया, मोती चुनि चुनि खात॥ २८॥

अज्ञान अवस्था में यह मन काग बना था और जीवों का घात करता फिरता था। अब तो यह हंस हो गया और सद्गुण-ज्ञानरूपी मोती को चुगता है॥ २८॥

अपने उरझे उरझिया, दीखै सब संसार।
अपने सुरझे सुरझिया, यह गुरु ज्ञान विचार॥ २९॥

अपनी बनायी हुई उलझनों में सारा संसार उलझा हुआ है। यह उलझन अपने ही सुलझाने से सुलझेगी भी—ऐसा श्रेष्ठ ज्ञान एवं विचार से प्रतीत होता है॥ २९॥

कोटि करम करि पलक में, यह मन विषया स्वाद।
सतगुरु शब्द न मानही, जनम गँवाया बाद॥ ३०॥

यह मन विषय-स्वादों में पड़कर क्षण में करोड़ों कर्म कर डालता है। सद्गुरु के निर्णय-वचनों को नहीं मानता, व्यर्थ ही में जीवन नष्ट करता है॥ ३०॥

कागद केरी नावरी, पारी केरी गंग।
कहँ कबीर कैसे तिरै, पाँच कुसंगी संग॥ ३१॥

नश्वर-शरीर रूपी कागज की नावका, संसार नदी की विषय-जल-धारा में पड़ी है। पांच ज्ञान-इन्द्रियां रूपी कुसंगी नावका को डूबाने वाले साथ में लगे हैं; फिर कैसे संसार-सागर तर सकते हैं! ॥ ३१॥

भाव—पहले मन-इन्द्रिय वश करो, पीछे संसार-सागर से तरने का नाम लो।

इन पाँचों से बन्धिया, फिर फिर धरै शरीर।
जो यह पाँचो बसि करै, सोई लागै तीर॥ ३२॥

इन पंच-इन्द्रियों द्वारा पांचों विषयों में बंधकर जीव बारम्बार शरीर धारण करता है। जो इन पांचों को स्वाधीन बना पाता है, वही मुक्त होता है॥ ३२॥

निहचिंत होय के गुरु भजै, मन में राखै साँच।
इन पाँचों को बसि करै, ताहि न आवै आँच॥ ३३॥

संसार से निःश्चिन्त होकर गुरु की सेवा करे और मन में सत्य स्वरूप की रति एवं सच्चाई रखे तथा इन पांचों इन्द्रियों को स्वाधीन बनावे, उसे कभी काल की आंच नहीं लग सकती ॥ ३३॥

काया कजरी बन अहै, मन कुंजर महमन्त।
अंकुस ज्ञान रतन है, फेरै साधू संत॥ ३४॥

यह शरीर कजली-जंगल है, इसमें मन रूपी उन्मत्त हस्ती घूमता है। स्वरूप-ज्ञान-रत्न ही अंकुश (गजबांक) है; इसको लेकर साधु-सन्त ही मन-हस्ती को फेर पाते हैं॥ ३४॥

काया देवल मन ध्वजा, विषय लहर फहराय।
मन चलते देवल चले, ताका सरबस जाय॥ ३५॥

शरीर मन्दिर है, इस पर मन की ध्वजा (पताका) लगी है, विषय वायु से

यह फहराती है, विषयों में मन के चलते ही शरीर चलायमान हो जाता है जिससे सर्वस्व नष्ट हो जाता है ॥ ३५ ॥

काया कसो कमान ज्यों, पाँच तत्त्वकर बान।
मारो तो मन मिरगला, नहिं तो मिथ्या जान॥ ३६ ॥

दया, क्षमा, सत्य, धैर्य, विचार इन पांच पक्के तत्त्व रूपी बाणों को चढ़ाकर शरीर रूपी धन्वा को कसो, और मन-मृग को मार गिराओ; अन्यथा अपनी धर्म की दीक्षा लेना मिथ्या समझो ॥ ३६ ॥

बिना सीस का मिरग है, चहुँ दिशि चरने जाय।
बाँधि लगाओ गुरु ज्ञानसों, राखो तत्त्व समाय॥ ३७ ॥

यह मन-पशु बिना सिर के है, (इसी से यह पहचानने में नहीं आता) यह चारों ओर विषयों में विचरता रहता है। इसको बांधकर गुरु-ज्ञान में लगाओ और उपर्युक्त दयादि पक्के तत्त्वों में लीन रखो ॥ ३७ ॥

अपने अपने चोर को, सब कोइ डारै मार।
मेरा चोर मुझको मिलै, सरबस डारूँ वार॥ ३८ ॥

सब लोग अपने-अपने चोर को मार डालते हैं, परन्तु मेरा मन-चोर मेरी पकड़ में आ जाय, तो उस पर मैं सर्वस्व न्योछावर कर दूं (उसको मित्र बनाकर सदैव अपने पास रखूं) ॥ ३८ ॥

कहत सुनत सब दिन गये, उरझि न सुरझा मन्न।
कहैं कबीर चेता नहीं, अजहूँ पहिला दिन्न॥ ३९ ॥

ज्ञान की बातें कहते-सुनते सब दिन बीत गये, परन्तु उलझा हुआ मन सुलझा नहीं। गुरु कबीर कहते हैं कि साधक सावधान नहीं हुआ, बहुत दिन परमार्थ में भरती कराये हो गया, परन्तु आज भी पहले दिन के समान नौसिखुआ-सा मालूम होता है। अथवा अपने सुधार का पहला दिन समझकर आज भी चेतो ॥ ३९ ॥

अकथ कथा यह मनहि की, कहैं कबीर समुझाय।
जो याको समझा परै, ताको काल न खाय॥ ४० ॥

कबीर गुरु समझाकर कहते हैं कि इस मन की कथा अकथनीय (विचित्र) है। जो इस मन की चालों को भली-भांति परख लेगा, उसको कल्पनाएं भ्रमा नहीं सकतीं ॥ ४० ॥

सुर नर मुनि सबको ठगै, मनहिं लिया औतार।
जो कोई याते बचै, तीन लोक ते न्यार॥ ४१॥

यह मन ही सबको ठगता है, यह ही जीव को बारम्बार अवतार (जन्म) धराता है। जो कोई इस मन से बच जाय, वह तीनों लोकों (तीनों गुणों) से अतीत हो जायेगा॥ ४१॥

कुम्भै बाँधा जल रहै, जल बिन कुम्भ न होय।
ज्ञानै बाँधा मन रहै, मन बिनु ज्ञान न होय॥ ४२॥

जैसे घड़े की दीवार से घिरे रहने पर घड़े में जल टिका रहता है, परन्तु मिट्टी में जल मिलाये बिना घड़ा नहीं बनता। इसी प्रकार ज्ञान द्वारा बांधने पर ही मन शांत होता है; परन्तु मन के बिना बाह्य ज्ञान नहीं होता॥ ४२॥

धरती फाटै मेघ मिलै, कपड़ा फाटै डौर।
तन फाटै को औषधी, मन फाटै नहिं ठौर॥ ४३॥
मेरे मन में परि गयी, ऐसी एक दरार।
फाटा फटिक पषान ज्यूँ, मिलै न दूजी बार॥ ४४॥

फटी हुई भूमि जल के बरसने पर मिल जाती है, फटा हुआ कपड़ा धागे से सिल देने पर मिल जाता है और शरीर के कटने-फटने पर औषध लगा देने से वह ठीक हो जाता है। परन्तु जब मन फट जाता है, तब कहीं ठौर-ठिकाना नहीं लगता॥ ४३॥ क्योंकि मन फटने पर वह पत्थर की दरार के समान दुबारा नहीं मिलता॥ ४४॥

यह बात सामान्य लोगों के लिए कही गयी है। विवेकियों के आचरण में यह साखी लक्षित होती है "सोना सज्जन साधु जन, टूटि जुरैं सौ बार" (बीजक, साखी २२५)।

मन फाटै बायक बुरै, मिटै सगाई साख।
जैसे दूध तिवास को, उलटि हुआ जो आक॥ ४५॥

जब मन फट जाता है, तब ज्ञान के वक्ता (उपदेशक गुरु-सन्त) भी बुरे लगते हैं, प्रेम नष्ट हो जाता है और धाक मिट जाती है। ऐसे मनुष्य की दशा ऐसी उलटी हो जाती है कि जैसे बिना औटाया हुआ तीन दिन का रखा हुआ कच्चा दूध बिगड़कर मदार के दूध के सदृश विषैला हो जाता है ॥ ४५॥

बात बनाई जग ठग्यो, मन परमोधा नाहिं।
कहैं कबीर मन लै गया, लख चौराशी माहिं॥ ४६॥

ज्ञान की चिकनी-चुपड़ी बात बनाकर जगत को ठगता रहा, परन्तु अपने मन को ज्ञानोपदेश कर शांत नहीं किया। ऐसे लोगों को मन चारों खानियों की नाना देहों में ले गया॥ ४६ ॥

मनवाँ तू क्यों बावरा, तेरी सुध क्यों खोय।
मौत आय सिर पर खड़ी, ढलते बेर न होय॥ ४७॥

हे मन! तू क्यों पगला बना है, तेरी सुध-बुध क्यों खोई हुई है! काल आकर तेरे सिर पर खड़ा है, तेरे शरीर के विनष्ट होते विलम्ब नहीं लगेगा॥ ४७॥

मन अपना समझाय ले, आया गाफिल होय।
बिन समझे उठि जायगा, फोकट फेरा तोय॥ ४८॥

हे मनुष्य! तू अपने मन को समझा-बुझाकर ठीक कर ले, नर-जन्म में आकर भी असावधान न हो। यदि बिना ज्ञान की स्थिति हुए कूच कर देगा, तो तुम्हारे नर-जन्म में आने का फेरा व्यर्थ ही जायेगा॥ ४८॥

मन सब पर असवार है, पैंड़ा करे अनन्त।
मनहीं पर असवार रहे, कोई बिरला सन्त॥ ४९॥

यह मन-दानव सब पर चढ़ा है और सबके ऊपर आने-जाने का अनन्तों मार्ग बना रखा है। जो मन पर चढ़ा हो, वह बिरला सन्त है ॥ ४९॥

तन का बैरी कोइ नहीं, जो मन शीतल होय।
तू आपा को डारि दे, दया करे सब कोय॥ ५०॥

शरीर का वैरी कोई नहीं है, यदि मन शीतल हो तो। तू सब प्रकार के अभिमान को त्यागकर शीतल-निर्मान बन जा, फिर तुझ पर सब लोग कृपा करेंगे ॥ ५०॥

मिरतक को धींजों नहीं, मेरा मन बीवै।
बाजैं बाब बिकार की, मूवा भी जीवै॥ ५१॥

मृतक (शांत) मन पर भी मैं विश्वास नहीं करता, मेरा मन उससे भी डरता है। क्योंकि विषय-विकार के वायु लगने पर मृतक मन भी जी उठता है॥ ५१॥
॥ ६६८॥

जीवन पर्यन्त मन से सावधान रहने की महान आवश्यकता है।

२२

माया को अंग

(इस प्रसंग में माया का स्वरूप और उससे मुक्ति-
प्राप्त करने की युक्ति बतायी गयी है।)

कबीर माया मोहिनी, माँगी मिलै न हाथ।
मना उतारी जूठ करि, लागी डोलै साथ॥ १ ॥

यह माया (धन-सम्पत्ति) मोहिनी है, यह चाहने से हाथ नहीं लगती (इच्छा किसी की पूरी नहीं होती)। इसको झूठा समझकर जो मन से उतार देता है, उसके पीछे-पीछे यह लगी घूमती है (इच्छा त्याग देने से हर समय पूर्णता रहती है)॥ १ ॥

कबीर माया पापिनी, लोभ भुलाया लोग।
पूरा किनहु न भोगिया, इसका यही वियोग॥ २ ॥

यह माया पापिनी है, इसने लोगों को लोभ में भुला रखा है। इसको कोई पूरा नहीं भोग पाता, इसका अधूरे में वियोग होता है॥ २ ॥

कबीर माया बेसवा, दोनूँ की इक जात।
आवत को आदर करे, जात न बूझै बात॥ ३ ॥

धन और वेश्या—दोनों की एक जात है। ये प्रथम मिलने पर तो आदर करते हैं और जाते समय बात तक नहीं पूछते (निर्दय होकर चले जाते हैं)॥ ३ ॥

कबीर माया मोहिनी, मोहै जान सुजान।
भागैं हूं छूटै नहीं, भरि भरि मारै बान॥ ४ ॥

इस मोहनी माया ने बड़े-बड़े बुद्धिमानों को मोह रखा है। कोई इससे अधूरे मन से भागता है तो बचता नहीं, यह लोभ का बाण चढ़ा-चढ़ा कर मारती है॥ ४ ॥

कबीर माया मोहिनी, सब जग घाला घानि।
कोइ इक साधू ऊबरा, तोड़ी कुल की कानि॥ ५ ॥

यह मोहिनी माया सारे जगत को घानी बनाकर लोभ के कोल्हू में डालकर पीसती है। कुल के अभिमान को तोड़कर कोई विरला ही सन्त इससे बचता है॥ ५॥

कबीर माया मोहिनी, भयी अँधियारी लोय।
जो सोये सो मुसि गये, रहैं वस्तु को रोय। ६॥

यह सम्पत्ति रूपी मोहिनी माया अंधियारी रात के समान होकर उपस्थित है। जो लोय (लोग) इसमें सो गये (माया में मस्त हो गये) वे काम-क्रोध-लोभादि डाकुओं द्वारा लूट लिये गये। वे वास्तविक ज्ञान-वस्तु के लिए रोते ही रह गये॥ ६॥ .

कबीर माया डाकिनी, सब काहू को खाय।
दाँत ऊपारूँ पापिनी, सन्तों नियरे जाय॥ ७॥

यह डाकिनी-माया सबको खाती है, परन्तु हे पापिनी! यदि तू सन्तों के पास जायेगी तो तेरे दांत उखाड़ लूंगा॥ ७॥

कबीर माया रूखड़ी, दो फल को दातार।
खावत खरचत मुक्ति भै, संचत नरक दुवार॥ ८॥

यह माया (धन) रूपी वृक्ष कल्याण और नरक—दो फलों को देने वाला है। उदारतापूर्वक खाने और परोपकार, दान, सन्त-सेवादि में खर्च करने से कल्याण होता है और केवल संग्रह करने से नरक-द्वार में गिरना पड़ता है॥ ८॥

कबीर माया जात है, सुनो शब्द निज मोर।
सुखियों के घर साधु जन, सूमों के घर चोर॥ ९॥

जाती हुई माया कहती है—सब लोग मेरे वचनों को सुनो! सुखियों (उदार) के घर में सन्तजन आते हैं और सूमों के घर में चोर आते हैं॥ ९॥

कबीर यह संसार की, झूठी माया मोह।
जिहि घर जिता बधावना, तिहिं घर तेता दोह॥ १०॥

इस संसार का माया-मोह झूठा है। जिस घर में धन-ऐश्वर्य को लेकर जितनी प्रसन्नता है उस घर में उतना ही परस्पर वैर-भाव तथा शोक है॥ १०॥

माया करक कदीम है, यह भवसागर माहिं।
जम्बुक रूपी जीव हैं, खैंचत ही मरि जाहिं॥ ११॥

यह माया इस संसार-सागर में सूखी हड्डियों का समूह है। मनुष्य गीदड़ रूप हैं, उसे अपनी-अपनी ओर खींचते-खींचते मर जाते हैं ॥ ११ ॥

माया सेती मति मिलो, जो सोबोरिया देहि।
नारद से मुनिवर गले, क्याहि भरोसा तोहि ॥ १२ ॥

माया से तो कल्याणार्थी को बिलकुल नहीं मिलना चाहिए, चाहे वह स्वर्णमय देह वाली हो। नारद जैसे श्रेष्ठ मुनि भी इसके संग में गल गये, फिर तुम्हारा क्या भरोसा है! ॥ १२ ॥

माया दीपक नर पतँग, भ्रमि-भ्रमि माहिं परन्त।
कोई एक गुरु ज्ञान ते, उबरे साधू सन्त ॥ १३ ॥

यह माया दीपक-लौ के समान है और मनुष्य पतंगी के तुल्य हैं; ये भ्रम-भ्रम करके उसमें गिरते हैं। इससे कोई बिरला ही साधु-संत गुरु-ज्ञान की शक्ति पाकर उद्धार पाता है ॥ १३ ॥

माया संचै संग्रहै, वह दिन जानै नाहिं।
सहस बरस की सब करैं, मरै मुहूरत माहिं ॥ १४ ॥

हजार वर्ष के लिए सभी धन संग्रह करते हैं, परन्तु उस दिन पर ध्यान नहीं देते जिस दिन एक क्षण में मर जाना है ॥ १४ ॥

माया छाया एक सी, बिरला जानै कोय।
भगता के पीछे फिरै, सनमुख भागै सोय ॥ १५ ॥

माया (धन) और छाया की एक दशा है, परन्तु यह भेद कोई बिरला जानता है। उदार-भक्तों के यह पीछे-पीछे घूमती है, और साकट (कंजूसों) के आगे-आगे भागी जाती है (पकड़ नहीं मिलती, मनुष्य को तृप्ति नहीं होती) ॥ १५ ॥

माया मन की मोहिनी, सुर नर रहे लुभाय।
इन माया सब खाइया, माया कोइ न खाय ॥ १६ ॥

यह माया मन को मोह लेने वाली है, इसमें सुर, नर, मुनि सभी लुब्ध हो रहे हैं। इस माया ने सबको धर दबोचा, परन्तु इसको कोई बिरला ही जीत सका ॥ १६ ॥

माया तो ठगनी भई, ठगत फिरै सब देश।
जो ठग ने ठगनी ठगी, ता ठग को आदेश ॥ १७ ॥

यह माया तो ठगनी बनकर सारे संसार को ठगती फिरती है। परन्तु जिस ठग ने इस ठगनी को भी ठग लिया, उस ठग को मेरा नमस्कार है॥ १७॥

भाव—वह ठग बिरला सन्त है, जो माया को ठग ले, जीत ले।

माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया शरीर।
आशा तृष्णा न मुई, यों कथि कहैं कबीर॥ १८॥

कबीर साहेब कहते हैं कि माया (मोह) एवं मन नहीं मरा, आशा-तृष्णा भी समाप्त नहीं हुई, केवल बारम्बार शरीर ही मरता रहा (तो कल्याण कैसे हो!)॥ १८॥

माया काल की खानि है, धरै त्रिगुण विपरीत।
जहाँ जाय तहँ सुख नहीं, या माया की रीत॥ १९॥

माया कष्टों का उत्पत्ति-स्थान है, यह त्रिगुण (काम, क्रोध, लोभ) का भयंकर रूप धारण करती है। माया का तो यही व्यवहार है कि यह जहां जाती है वहां सुख नहीं रहता ॥ १९॥

माया तरुवर त्रिविधिका, शोक दुःख सन्ताप।
शीतलता सपने नहीं, फल फीका तन ताप॥ २०॥

यह माया (धन-सम्पत्ति) शोक, दुख तथा सन्ताप तीन शाखाओं वाला वृक्ष है। इसके बढ़ने पर स्वप्न में भी शीतलता नहीं मिलती। इसका परिणाम सार-हीन है एवं शरीर में ताप उत्पन्न करने वाला है॥ २०॥

मोटी माया सब तजै, झीनी तजी न जाय।
पीर पैगम्बर औलिया, झीनी सबको खाय॥ २१॥

घर-धन, स्त्री-पुत्रादि रूपी मोटी माया का त्याग तो बहुत-से लोग कर देते हैं, परन्तु उसकी सूक्ष्म आसक्ति एवं मन की मान्यता रूपी झीनी माया नहीं त्यागी जाती। पीर, पैगम्बर, औलिया—सबको झीनी माया खा रही है॥ २१॥

झीनी माया जिन तजी, मोटी गयी बिलाय।
ऐसे जन के निकट से, सब दुख गये हिराय॥ २२॥

परन्तु जिन्होंने उपर्युक्त मन की आसक्ति रूपी झीनी माया का त्याग कर दिया, उसकी मोटी माया का सम्बन्ध अपने आप विनष्ट हो गया। ऐसे विवेकी पुरुष के पास से सारे दुख समाप्त हो गये॥ २२॥

खान खरच बहु अन्तरा, मन में देखु विचार।
एक खवावै साधु को, एक मिलावै छार॥ २३॥

मन में विचार करके देखो! खाने और खर्चने में भी बड़ा अन्तर है। एक तो केवल निर्वाह के लिए सात्विक वस्तुओं को स्वयं खाता और खर्च करके सन्तों को खिलाता है, दूसरा स्वयं के नाना अनावश्यक विषय-विलासों में लगाकर एवं वेश्यादि को देकर धूल में मिलाता है।

अथवा खाने-खर्चने में बड़ा अन्तर है, एक तो खर्च करके सन्तों को खिलाता, परोपकार करता और लोक-परलोक सुधारता है और दूसरा स्वयं खाकर मिट्टी कर देता है। अतएव स्वयं खाने से भी दूसरे को खिलाना अधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि बिना स्वयं खाये भी नहीं चलता। परन्तु स्वार्थ से परमार्थ बड़ा तो है ही॥ २३॥

मीठा सब कोय खात है, विष है लागै धाय।
नीम न कोई पीवसी, सबै रोग मिट जाय॥ २४॥

मिठाई सब कोई खाते हैं, जो रोग के रूप में बदलकर मनुष्य को लगती है। नीम का काढ़ा कोई नहीं पीता, जिससे सब रोग मिट जायं॥ २४॥

भाव—माया-भोग का सब लोग उपभोग करते हैं, जिसका परिणाम भयंकर है। त्याग-वैराग्य कम लोग धारण करते हैं, जिससे जीव मुक्ति पाता है।

साधू ऐसा चाहिये, आई देय चलाय।
दोष न लागै तासु को, शिर की टलै बलाय॥ २५॥

सन्तों को ऐसा चाहिए कि पूजा में आया हुआ सब धन पुनः धर्म में लगा दें। ऐसा करने से उन्हें माया के दोष (काम, क्रोध, लोभ, मोह, आसक्ति आदि) नहीं लगेंगे और सिर की उपाधि भी टल जायेगी॥ २५॥

सुकृत लागै साधु की, यदि विमुख की जाय।
कै तो तल गाड़ी रहै, कै कोइ और खाय॥ २६॥

साधु-भक्तों का धन लोकहिताय पुण्य-कर्मों में लगता है, परन्तु गुरु-विमुखों का धन व्यर्थ में जाता है। या तो वह भूमि में गाड़ा रह जाता है या कोई दूसरे ही लूटकर खाते हैं॥ २६॥

या मारा जग भरमिया, सबकी लागी उपाध।
यहि तारण के कारने, जग में आये साध॥ २७॥

इस माया के मारे जगत के जीव भटकते हैं, यह मायोपाधि सबके पीछे लगी है। इस माया से जीव को मुक्ति दिलाने के लिए ही "जगत में सन्त प्रकट हुए हैं"॥ २७॥

कबीर माया सापिनी, जनता ही को खाय।
ऐसा मिला न गारुड़ी, पकड़ि पिटारे बाँय॥ २८॥

यह माया ऐसी सर्पिणि है कि अपने जन्माये हुए को ही खाती है (भोगों से पाल-पोष कर बन्धनों में डालती है)। ऐसा कोई विष झाड़ने वाला नहीं मिलता (कम मिलते हैं) जो इसे पकड़कर ज्ञान के पिटारे में बन्द कर ले॥ २८॥

माया का सुख चार दिन, कहँ तू गहे गवाँर।
सपने पायो राज धन, जात न लागै बार॥ २९॥

माया का सुख चार दिन का (क्षणिक) है; हे भोले! उसे तू क्या पकड़ता है! स्वप्न के सदृश राज्य-धनादि पाया है, इसके जाते क्या विलम्ब है!॥ २९॥

करंक पड़ा मैदान में, कुकुर मिले लख कोट।
दावा कर कर लड़ि मुये, अन्त चले सब छोड़॥ ३०॥

हड्डी मैदान में पड़ी है, लाखों-करोड़ों कुत्ते उस सूखी हड्डी को अपना-अपना मानकर लड़ मरे और अन्त में सब छोड़कर चल दिये॥ ३०॥

भाव—संसारी लोग माया को अपनी-अपनी करके मानते हैं। अन्त में वह किसी के हाथ नहीं आती।

माया माथे सींगड़ा, लम्बे नौ नौ हाथ।
आगे मारै सींगड़ा, पाछै मारे लात॥ ३१॥

माया के मस्तक पर अहंकार के नौ-नौ हाथ के लम्बे-लम्बे सींग हैं। आते समय वह सींगों से मारती है, और मनुष्य की छाती अभिमान से तन जाती है, और जाते समय वह पश्चाताप रूपी पैर से मारकर मनुष्य को शोकित बना जाती है॥ ३१॥

गुरु को चेला बीष दे, जो गाँठी होय दाम।
पूत पिता को मारसी, ये माया के काम॥ ३२॥

यदि गुरु महाराज के पैसा अधिक हो तो कितने ही शिष्य उन्हें विष देकर मार देते और धन ले लेते हैं, इसी प्रकार कितने पुत्र भी पिता को मारकर धन ले लेते हैं, यही माया का व्यवहार है॥ ३२॥

माया दासी सन्त की, साकट की सिरताज।
साकुट की सिर मानिनी, सन्तों सहेली लाज॥ ३३॥

माया सन्तों की दासी है और साकटों का सिरमुकुट। साकटों के सिर पर विराजती और उनसे मान चाहती है और सन्तों के संग में लज्जा करती है॥ ३३॥

माया माया सब कहै, माया लखै न कोय।
जो मन से न ऊतरै, माया कहिये सोय॥ ३४॥

माया-माया सभी कहते हैं, परन्तु कोई माया का स्वरूप नहीं परखता। जिसका स्मरण मन से नहीं उतरता अर्थात मन में जिसकी अत्यन्त आसक्ति है, उसी को माया कहते हैं॥ ३४॥

माया छोड़न सब कहै, माया छोरि न जाय।
छोरन की जो बात करु, बहुत तमाचा खाय॥ ३५॥

सब कहते हैं कि माया बुरी बला है, इसको छोड़ देना चाहिए; परन्तु शीघ्र सबसे छोड़ी नहीं जाती। जो अधूरे रूप से छोड़ने की बात करते हैं, वे बहुत थपेड़े खाते हैं॥ ३५॥

मन मंते माया तजी, यों करि निकस बहार।
लागी रहि जानी नहीं, भटकी भयो खुवार॥ ३६॥

(विवेकजन्य वैराग्य विना) मन्मती रूप से जो लोग घर-द्वार त्यागकर गृहस्थी से बाहर हुए, उनके पीछे माया लगी ही रही, परन्तु वे जान न पाये, भटककर व्यर्थ में गये॥ ३६॥

माया संख पदुम लौं, भक्ति बिहुन जो होय।
जम लै ग्रासै सो तेहिं, नरक पड़े पुनि सोय॥ ३७॥

भक्ति से हीन मनुष्य के यदि पद्म-शंख तक माया (धन) हो, तो भी कुवासना उसे ग्रस खायेगी, और वह नीच योनि रूपी नरक में पड़ेगा॥ ३७॥

मन ते माया ऊपजै, माया तिरगुण रूप।
पाँच तत्त्व के मेल में, बाँधे सकल सरूप॥ ३८॥

मन का मोह ही माया है, वह मन से उत्पन्न होती है, इसमें सत, रज, तम—ये तीन गुण मिले हुए हैं। पृथ्वी, जल आदि जड़तत्त्वों के मेल में ही मनोमय-माया ने सम्पूर्ण शरीरों का निर्माण कर रखा है॥ ३८॥ ७०६॥

२३

कनक कामिनी को अंग

(इस प्रसंग में कामिनी के साथ कनक के भी दोष बताये गये हैं। परन्तु विशेष रूप में कामिनी के दोषों का ही दिग्दर्शन है। स्त्री की आसक्ति पुरुषों के मन में तथा पुरुषों की आसक्ति स्त्रियों के अन्तःकरण में अत्यन्त प्रबल है। जितनी गहराई से यह गड़ी है, उतनी ही गहराई से खोदकर निकाले बिना आसक्ति का क्षीण होना कठिन है।

मुमुक्षा के अधिकारी पुरुष विशेष दिखते हैं, इसलिए उनके मन से स्त्री-आसक्ति दूर करने के लिए स्त्री-देहों में अधिक दोष-दर्शन कराये गये हैं। यों इस प्रसंग की आठवीं साखी में स्त्री-पुरुष को बराबर शिक्षा दी गयी है 'नारि-पुरुष सबही सुनो' इत्यादि।

पहले समय में राजा, बाबू, जमींदार आदि स्त्री को केवल भोगों की मशीन या गले का हार समझकर, अत्यन्त लम्पट होते थे और उनकी दशा देखकर स्त्री-देह के दोष-दर्शन की आवश्यकता थी। उससे बल्कि अधिक विषय-खण्डन की आज भौतिक युग में आवश्यकता है! हां, नारियां भी मनुष्य हैं, इसलिए स्त्री-पुरुष दोनों पक्षों पर खण्डन होना चाहिए।

इसमें आये हुए कामिनी के दोष-दर्शनों को पढ़-सुनकर किसी माता-बहन को कष्ट नहीं मानना चाहिए। क्योंकि माता-बहन के लक्ष्य में दोष-दर्शन नहीं है। बल्कि कामिनी के लक्ष्य में है। माता-बहन के रूप में नारी जाति को श्रद्धा की दृष्टि से देखा गया है।

"जो कबहूँ के देखिये, बीर बहिन के माय" (१२)।

कामना युत जहां तक स्त्री-पुरुष हैं, सब छल-कपट पूर्ण हैं। कामासक्ति ही स्त्रियत्व एवं काम-विजय ही पुरुषत्व है। इन पंक्तियों का लेखक स्वयं जानता है कितनी ही माताएं आदर्श गृहिणी, आदर्श ब्रह्मचारिणी एवं आदर्श चरित्रवाली हैं। व्यक्ति विशेष तो थोड़े लोगों को ही जान सकता है, संसार में पता नहीं कितनी आदर्श नारियां हैं, जो श्रद्धेया हैं। और कितने ही पुरुष महा पतित देखे जाते हैं।

वास्तव में इन सब बातों से और प्रस्तुत प्रसंग की कामिनी-निन्दा से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो कामिनी-निन्दा है। बल्कि कामासक्ति की निन्दा समझनी चाहिए। यों साखियों में आये हुए नारी शब्द को साध्वी नारियां पुरुषों पर घटा लें।

इस प्रसंग के अधिकारी मुमुक्षु नर-नारी हैं। यों साधारण गृहस्थों को तो इसे अधिक मनन करना चाहिए। क्योंकि बिना कड़वी औषध का सेवन किये रोग नहीं दूर होता। ऐसे कठोर वचन सुनकर मन में चोट लगेगी और कुछ तो विषयों से मन हटेगा।

आज की बढ़ती हुई जनसंख्या से सरकार बहुत चिंतित है और सन्तान-नियोजन के अनेक बेढंगे कानून एवं प्रयोग लागू कर रही है। जिससे सब प्रकार से आचरणों का पतन है। ऐसी अवस्था में तो कामनाशक ऐसी कड़वी बूटी का सेवन लोगों के लिए अमृतमय होना चाहिए और नर-नारी को परस्पर शरीरों से घृणा करके ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी होने चाहिए। कनक कहते हैं सोना को, परन्तु तात्पर्य में अधिक धन है।)

चलो चलो सब कोइ कहै, पहुँचा बिरला कोय।
एक कनक अरु कामिनी, दुरगम गाटी दोय॥ १॥

मुक्ति-धाम में पहुंचने के लिए सब कोई चलो-चलो कहते हैं, परन्तु कोई बिरले ही पहुंचते हैं। क्योंकि एक कनक और दूसरी कामिनी—ये दो घाटियां बड़ी दुर्गम हैं॥ १॥

एक कनक और कामिनी, दोऊ अगिनि की झाल।
देखत ही ते पर जरै, परसि करै पैमाल॥ २॥

कनक और कामिनी, दोनों अग्नि की ज्वालाएं हैं। इनको देखते ही विवेक-वैराग्य के पंख जल जाते हैं और स्पर्श करने से तो ये मनुष्य को निकम्मा बना देते हैं॥ २॥

एक कनक अरु कामिनी, विष फल लिया उपाय।
देखत ही ते विष चढ़ै, चाखत ही मरि जाय॥ ३॥

कनक-कामिनी रूपी विष फलों को मनुष्य ने तोड़ लिया। इसको देखते ही विष चढ़ जाता है और चखने पर तो मर ही जाता है॥ ३॥

एक कनक अरु कामिनि, तजिये भजिये दूर।
गुरु बिच पारै अन्तरा, जम देसी मुख धूर॥ ४॥

कनक और कामिनी को त्यागकर दूर भागो। ये गुरु के बीच में भेद डालते हैं। अन्त में कुवासनाएं मुख में धूल झोंकती हैं (कष्ट देती हैं) ॥ ४॥

जो या घाटी लंघहीं, सो जन उतरै पार।
या घाटी से आखड़ै, ताको वार न पार॥ ५॥

जो इस कनक-कामिनी दर्रे को पार कर जाय, वही भवसागर पार कर सकता है। इस दर्रे में फिसल जाने से तो उसका कहीं ठिकाना नहीं॥ ५॥

नारी निरखि न देखिये, निरखि न कीजै गौर।
देखत ही ते विष चढ़ै, मन आवै कछु और॥ ६॥

स्त्रियों को घूरकर मत देखो (सहसा उन पर दृष्टि चली जाय, तो शीघ्र ही नम्र कर लो) उसे देखकर चिन्तन न करो। क्योंकि इसको देखते ही शरीर में विकार का विष चढ़ जाता है और मन में कुछ बुरी ही भावनाएं जाग्रत हो जाती हैं॥ ६॥

नारि पुरुष की इस्तरी, पुरुष नारि का पूत।
याही ज्ञान विचारि के, छाड़ि चला अवधूत॥ ७॥

नारी पुरुष की स्त्री है और पुरुष नारि-जाति का पुत्र है (माता की जाति-नारी से वैषयिक सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं) ऐसा ज्ञान विचारकर कितने महापुरुष स्त्री को त्यागकर विरक्त हो जाते हैं॥ ७॥

नारि पुरुष - सबही सुनो, यह सतगुरु की साख।
विष फल फले अनेक हैं, मति कोइ देखो चाख॥ ८॥

हे कल्याणार्थी नारी-पुरुषो! सद्गुरु की यह प्रामाणिक बात सब कोई सुनो। विषयों के अनेक विषमय फल फले हैं, उसे कोई खाकर मत देखो (दूर से त्याग करो) ॥ ८॥

पर नारी पैनी छुरी, बिरला बाँचे कोय।
कबहूँ छेड़ि न देखिये, हँसि हँसि खावै रोय॥ ९॥

परायी स्त्री तीव्र तलवार है, इससे कोई बिरला बचता है। इसको छेड़कर कोई मत देखो, यह हंस-हंस कर तथा रो-रो कर दोनों प्रकार से खाती है॥ ९॥

पर नारी पैनी छूरी, बिरला बाँचे कोय।
न वह पेट संचारिये, जो सोने की होय॥ १०॥

परायी स्त्री रूपी तीव्र छूरी से बिरले बचते हैं। परायी स्त्री यदि सोने जैसी सुन्दरी हो, तो भी उसका प्रेम हृदय में किंचित भी न घुसने दो॥ १०॥

परनारी का राचना, ज्यो लहसुन की खान।
कोने बैठे खाइये, परगट होय निदान॥ ११॥

परायी स्त्री में प्रेम करना लहसुन खाने के समान है। जैसे लहसुन एकांत में खाओ, तो भी उसकी गन्ध से अन्त में लहसुन खाना प्रकट हो जाता है, वैसे कितना ही छिपाकर परायी स्त्री से प्रेम करो, अन्त में विना उसके खुले रह नहीं सकता॥ ११॥

जो कबहूँ के देखिये, बीर बहिन के माय।
आठ पहर अलगा रहे, ताको काल न खाय॥ १२॥

(अपनी ओर से तो देखो नहीं, परन्तु) यदि कभी अपने आप सहसा नारी-जाति पर दृष्टि जड़ जाय, तो समान अवस्था वाली में भाई-बहन का भाव लाओ और अधिक अवस्था वाली को माता तुल्य विचारो। जो आठों पहर नारी जाति से मन, वचन, कर्म से दूर रहता है, उसको काम-कल्पनाएं खा नहीं सकतीं॥ १२॥

सरब सोने की सुन्दरी, आवै वास सुवास।
जो जननी है आपनी, तऊ न बैठे पास॥ १३॥

सर्वांग स्वर्णमय सुन्दरी हो और उसके अंगों से सुगन्धी बिखरती हो, यदि अपनी ही माता हो तो भी पास मत बैठो॥ १३॥

सात दीप नौ खंड में, सबसे फगुवा लीन।
ठाढ़ी कहै कबीर सों, तुमने कछू न दीन॥ १४॥

इस कनक-कामिनी ने सात खण्ड नौ द्वीपों में सबसे विषय-उपभोग का फगुआ ले लिया। परन्तु खड़ी होकर कबीर साहेब से कहती रह गयी कि तुमने मुझे कुछ भी नहीं दिया॥ १४॥ ७२०॥

बाल-ब्रह्मचारी विरक्तात्मा सद्गुरु श्री कबीर साहेब को जो सज्जन अपने भूलवश एवं कल्पित कहानियों के आधार पर गृहस्थ सिद्ध करने का दुराग्रह करते हैं, वे इस प्रसंग को पढ़कर गम्भीरतापूर्वक विचार करें।

सद्गुरु कबीर के जीवन चरित्र में जहां उन्हें गृहस्थ सिद्ध किया गया हो, एकदम कपोल-कल्पित एवं मनगढंत है। सद्गुरु की वाणी से ही उनके आचरणों के विषय में विवेक करना चाहिए।

२४

चानक को अंग

(इस प्रसंग में परमार्थ में घुसे हुए नकली लोगों की कसौटी की गयी है।)

कबीर कलियुग कठिन है, साधु न मानै कोय।
कामी क्रोधी मस्खरा, तिनका आदर होय॥ १॥

गुरु कबीर कहते हैं कि यह भौतिक युग बड़ा भयंकर है, कोई सच्चे सन्त को नहीं मानता (कम लोग मानते हैं)। जो कामी, क्रोधी और हंसी-मजाक करने में चंट हैं, उन्हीं का सत्कार होता है॥ १॥

नाचै गावै पद कहै, नाहीं गुरु सो हेत।
कहैं कबीर क्यों नीपजै, बीज बिहूना खेत॥ २॥

ऐसे कितने लोग हैं, जो कथा-कीर्तन में नाचते-गाते और पद-दोहे कहते हैं; परन्तु यथार्थ सद्गुरु से उनका प्रेम नहीं रहता। खेत में बीज डाले बिना उसमें क्या उत्पन्न होगा!॥ २॥

इसी उदर के कारने, जग जाँच्यो निसि जाम।
स्वामिपनो सिर पर चढ़ो, सर्यो न एकौ काम॥ ३॥

कितने लोग तो इस पेट के लिए ही संसार के आगे रात-दिन हाथ फैलाये रहते हैं (तृष्णा में बहते हैं, थोड़े में तृप्त नहीं होते)। कितने लोगों के तो धन-मठ-समाज-पुजापा एवं शिष्य-शाखा का स्वामीपन सिर पर सवार रहता है। ऐसे लोग कुछ भी अपना कल्याण नहीं कर पाते ॥ ३॥

कलि का स्वामी लोभिया, पीतल धरे खटाय।
राज दुवारे यों फिरै, ज्यों हरियाई गाय॥ ४॥

पाप-वासना से घिरे स्वामी लोग लोभी हैं, वे पीतल की मूर्ति गढ़ाकर धर रखे हैं, अथवा जैसे खटाई में रखा पीतल थोड़े समय के लिए चमकता है; पश्चात पुनः मैला हो जाता है, वैसे इनका क्षणिक ज्ञान है। धन के लिए राज-दरबार पर इस प्रकार घूमते हैं जैसे हरहट गौ॥ ४॥

तारा मण्डल बैठि कै, चाँद बढ़ाई खाय।
उदै भया जब सूर का, तब तारा छिपि जाय॥ ५॥

तारा मण्डल में बैठकर चन्द्रमा अपनी बड़ी बड़ाई हांकता है, परन्तु जब सूर्य उदय हुआ, तब तारे सहित चन्द्रमा छिप जाता है॥ ५॥

भाव—साधारण लोगों में वाचिकज्ञानी लोग अपने ज्ञान की डींग हांकते हैं, परन्तु जब सच्चे विरक्त ज्ञानी आते हैं, तब वे लज्जित हो जाते हैं।

देखन का सब कोय भलो, जैसे सित का कोट।
रवि के उदै न दीसही, बँधै न जल की पोट॥ ६॥

देखने मात्र के लिए सब कोई अच्छे लगते हैं, जैसे बर्फ का किला; परन्तु सूर्योदय होते ही वह पिघलकर समाप्त हो जाता है, जल की गठरी कहीं बंधती है!॥ ६॥

भाव—नकली लोगों का ज्ञान क्षणिक होता है।

कबीर ब्यास कथा कहैं, भीतर भेदै नाहिं।
औरों को परमोधता, गये मुहर का माहिं॥ ७॥

पण्डित जी कथा कहते हैं, परन्तु उन्हों के हृदय में वे बातें नहीं बेधतीं। दूसरे को तो ज्ञानोपदेश करते हैं और स्वयं रुपये के लोभ में पतित हैं॥ ७॥

कबीर कहहिं पीर को, समझावै सब कोय।
संशय पड़ेगा आपकूं, औरों कहै का होय॥ ८॥

कबीर साहेब उन गुरु लोगों के प्रति खेद कर कहते हैं कि जो स्वयं शिष्य-भाव में उतरे बिना गुरु बन गये और सबको ज्ञानोपदेश करने लगे, वे स्वयं तो अज्ञान में पड़े हैं, फिर अन्य के सामने ज्ञान की बातें झाड़ने से क्या होता है!॥ ८॥

कबीर सुनावत दिन गये, उलझि न सुलझा मन्न।
कहैं कबीर चेता नहीं, अजहूं पहला दिन्न॥ ९॥

दूसरे को उपदेश सुनाते-सुनाते जीवन के सारे समय समाप्त हो गये, परन्तु ऐसे उपदेशकगुरु का ही उलझा हुआ मन नहीं सुलझा। कबीर साहेब कहते हैं कि ऐसे ज्ञानमदी लोग स्वयं नहीं सावधान होते, प्रतीत होता है कि परमार्थ घेरा में आये उनका पहला ही दिन है॥ ९॥

अमरा पुर को जात हौं, सबसों कहौं पुकार।
आवन होय तो आइयो, सूरी ऊपर यार॥ १०॥

अमर स्व-स्वरूप स्थिति में स्थित होकर विवेकी पुरुष अपना कल्याण कर अन्य को उस सत्य का उपदेश करते जाते हैं "हे मित्र! आना हो तो आ जाओ। सत्य के ऊपर चढ़ना सूली के ऊपर चढ़ना है"॥ १०॥

इन्द्री एकौ बस नहीं, छोड़ि चले परिवार।
दुनिया पीछे यों फिरै, जैसे चाक कुम्हार॥ ११॥

जिनकी एक भी इन्द्रिय अपने वश नहीं है और घर-परिवार को छोड़कर साधु-वेष धर लिये, ऐसे लोग लालच में पड़कर संसार के पीछे इस प्रकार घूमते हैं जैसे कुम्हार का चाक चक्कर काटता रहता है॥ ११॥ ७३१॥

शिक्षा—पहले अपने मन-इन्द्रियों को स्ववश कर पीछे साधुवेष लो।

साधू होना चाहिये, पक्का है के . खेल।
कच्चा सरसों पेरिके, खरी भया नहिं तेल॥

(बीजक, साखी २८०)

२५
आतम अनुभव को अंग

(आत्मा कहते हैं अपने आप को, इस प्रसंग में अपने आप के अनुभव की ओर संकेत है।)

नर नारी के सुख को, खँसी नहीं पहिचान।
त्यों ज्ञानी के सुख को, अज्ञानी नहिं जान॥ १॥

स्त्री-पुरुष के विषय-सुख को जैसे हिजड़ा नहीं जान सकता, वैसे ज्ञानी के स्वरूपस्थिति-सुख को अज्ञानी नहीं जान सकता॥ १॥

ज्ञानी युक्ति जनाइया, को सुनि करे विचार।
सूरदास की इस्तरी, का पर करे सिंगार॥ २॥

विवेकियों ने स्वरूपस्थिति की युक्ति तो जनाई, परन्तु उसको सुनकर इन अविवेकियों में से कौन विचार करे! सूरदास की स्त्री का शृंगार करना इसलिए व्यर्थ है कि सूरदास देखते ही नहीं हैं, फिर शृंगार में कौन मोहे! इसी प्रकार अविवेकी के सामने विवेक की बात कहना व्यर्थ होता है॥ २॥

ज्ञानी भूले ज्ञान कथि, निकट रहा निजरूप।
बाहिर खोजैं बापुरे, भीतर वस्तु अनूप॥ ३॥

पास ही, बल्कि अपने आप ही स्व-स्वरूप को न जानकर वाचिक-ज्ञानी लोग ज्ञान कथन करके भूल गये। हृदय में वह विलक्षण चैतन्य पदार्थ विराजमान है, परन्तु ये बेचारे उसे बाहर खोज रहे हैं॥ ३॥

बूझ सरीखी बात है, कहन सरीखी नाहिं।
जेते ज्ञानी देखिये, तेते संसै माहिं॥ ४॥

स्व-स्वरूप की बात तो समझने तथा अनुभव करने की है, यह वाद-विवाद का विषय नहीं है। वाद-विवाद करने वाले जितने वाचिकज्ञानी देखे जाते हैं, सब संशय में पड़े हैं॥ ४॥

आतम अनुभव जय भयो, तब नहिं हर्ष विषाद।
चित्र दीप सम ह्वै रहे, तजिकर वाद विवाद॥ ५॥

अपने आप स्व-स्वरूप चैतन्य का जब अनुभव हो जाता है, तब हर्ष-शोक नहीं रह जाते। ऐसे पुरुष वाद-विवाद त्यागकर चित्र के दीपक की भांति स्थिर हो जाते हैं॥ ५॥

ज्ञानी तो निरभय भया, मानै नाहीं संक।
इन्द्रिन केरे बसि पड़ा, भुगते नरक निसंक॥ ६॥

और वाचिकज्ञानी तो ज्ञान-मद धारणकर निर्भय हो जाता है, वह अपने मन में पाप-पुण्य की शंका नहीं मानता। ऐसे लोग इन्द्रियों के वश में पड़कर जीवनपर्यन्त कुकर्म करते हैं और लोक-परलोक में निःशंक होकर नरक भुगतते हैं॥ ६॥ ७३७॥

२६

सहज को अंग

(इस प्रसंग में सहज के स्वरूप का परिचय कराया गया है।)

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्हैं कोय।
पाँचों राखै पसरतो, सहज कहावै सोय॥ १॥

सहज-सहज सब कोई कहते हैं, परन्तु सहज क्या है इसको नहीं जानते। विषयों में फैली हुई पांचों ज्ञान-इन्द्रियों को जो अपने स्वाधीन रखना है, यह इन्द्रियजित अवस्था ही सहज अवस्था है॥ १॥

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्हैं कोय।
जिन सहजै विषया तजै, सहज कहावै सोय॥ २॥

सहज-सहज सब कोई कहते हैं, परन्तु उसे समझते नहीं। जिन्होंने सहजरूप से विषय-वासनाओं का परित्याग कर दिया है, उसकी निर्विषय-स्थिति ही सहज कहलाती है॥ २॥

जो कल्पै तो दूरि है, अनकल्पै ह्वै सोय।
सत गुरु मेटी कल्पना, सहज होय सो होय॥ ३॥

जिसकी प्राप्ति की कल्पना करो वह दूर हो जाता है (नहीं मिलता) और मन में जिसकी कोई कल्पना नहीं वह प्राप्त हो जाता है। अतएव जिसको यथार्थ सद्गुरु मिल गये और स्वरूपबोध द्वारा उसकी सब मनःकल्पनाएं मिटा दिये, तब उस मुमुक्षु पुरुष के हृदय में ऐसा विचार आ जाता है कि "सहज रूप में जो होगा-सो-होगा, कल्पना-चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं"॥ ३॥

जो कुछ आवै सहज में, सोई मीठा जान।
कड़वा लागै नीमसा, जामें ऐंचातान॥ ४॥

हे बोधवान! जो कुछ सहज में आ जाय उसी को मीठा (उत्तम) समझो, जो ऐंचाखैंची से मिलता है, वह तो विवेकियों को नीम-सा ही कड़वा लगता है॥ ४॥ ७४१॥

२७

मध्य को अंग

(दोनों ओर अति का त्यागकर मध्यमार्ग पकड़ो)

हिन्दू मुआ राम कहि, मुसलमान खुदाय।
कहैं कबीर सो जीवता, दोउ के संग न जाय॥ १॥

हिन्दू और मुसलमान सत्यता का रहस्य समझे बिना क्रमशः राम और अल्लाह शब्दों को दुराग्रहपूर्वक पकड़कर डूब मरे। कबीर साहेब कहते हैं कि इस संसार में वही सावधान है जो इन दोनों के धोखे में नहीं पड़ता और सार्वभौमिक सत्यता को समझता है कि हर प्राणी के दिल में रमने वाला चेतन ही राम और अल्लाह है॥ १॥

हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहिं।
पाँच तत्त्व का पूतरा, गैबी खेलै माहिं॥ २॥

यदि कहूं कि मैं हिन्दू हूं, तो ऐसी बात नहीं; यदि कहूं मैं मुसलमान हूं, तो यह भी बिलकुल झूठी बात है। वास्तव में पृथ्वी-जलादि जड़ तत्त्वों से शरीर-पुतला बना है और उसमें अदृश्य अविनाशी चेतन क्रीड़ा करता है॥ २॥

भाव—पृथ्वी-जलादि जड़ तत्त्व हिन्दू-मुसलमान आदि नहीं। नाना चेतन एवं रूह भी हिन्दू-मुसलमान नहीं। फिर हिन्दू-मुसलमान दोनों ही कल्पित हुए। वास्तव में मानव समान हैं।

"कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरुक न कोई॥"

(बीजक, शब्द ७५)

अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप॥ ३॥

बहुत बोलना अच्छा नहीं, एकदम चुप रहना भी अच्छा नहीं। इसी प्रकार बहुत बरसना भी ठीक नहीं होता, और बहुत धूप होना भी लाभकर नहीं॥ ३॥

भाव—प्रायः हर कार्य में अति का त्याग करना चाहिए "अति सर्वत्र वर्जयेत्"।

सबही भूमि बनारसी, सब निर गंगा होय।
ज्ञानी आतम राम है, जो निर्मल घट होय॥ ४॥

ज्ञानी हृदय को पवित्र बनाकर स्वरूप-राम में स्थित हो गया, उसके लिए काशी और दूसरी भूमि तथा गंगा नदी या अन्य नदियां बराबर हैं॥ ४॥ ॥७७५॥

२८

जीवत मृतक को अंग

(जो जीते जी मर लेता है वही अमर हो जाता है।)

जीवत मिरतक होय रहै, तजै खलक की आश।
रच्छक समरथ सद्गुरु, मति दुख पावै दास॥ १॥

संसार की आशा त्यागकर जीते जी मर जाय (सब अहंकार को त्याग दे)। हे शिष्य! संसार की आशा में पड़कर तू क्यों दुखी होता है! समर्थ सद्गुरु तेरा रक्षक है॥ १॥

जीवन में मरना भला, जो मरि जानै कोय।
मरना पहिले जो मरै, अजर अमर सो होय॥ २॥

जीते जी ही मरना अच्छा है, यदि कोई मरना जाने तो। मरने के पहले ही जो मर लेता है वह अजर-अमर (स्वरूपस्थिति-मोक्ष को प्राप्त) होता है॥ २॥

भाव—शरीर रहते-रहते जिनके समस्त अहंकार समाप्त हो गये, वे वासना-विजयी ही जीवन्मुक्त होते हैं।

मन को मिरतक देखि के, मति माने विश्वास।
साधु तहाँ लौं भय करे, जौ लौं पिंजर साँस॥ ३॥

मन को मृतक (शांत) देखकर यह विश्वास न करो कि वह अब धोखा नहीं देगा। (असावधान होने पर वह पुनः चंचल हो सकता है, इसलिए) विवेकी सन्त मन से तब तक भय रखकर सावधान रहते हैं जब तक शरीर में श्वास चलता है॥ ३॥

मैं जानूँ मन मरि गया, मरि के हूआ भूत।
मूये पीछे उठि लगा, ऐसा मेरा पूत॥ ४॥

भूलवश मैंने यह जाना था कि मेरा मन मर गया, परन्तु वह तो मरकर प्रेत हुआ। मरने के पश्चात भी उठकर मेरे पीछे लग पड़ा, ऐसा यह मेरा मन बच्चा है॥ ४॥

भाव—बाहर कहीं भूत-प्रेत नहीं होते। यह मन ही भूत-प्रेत है। यहां का भाव यह है कि एक काल में मन शांत हो जाने पर भी दूसरे काल में वह पुनः जाग्रत होता है। अतः जीवन पर्यन्त इसकी रखवाली करनी चाहिए।

जब लग आश शरीर की, मिरतक हुआ न जाय।
काया माया मन तजै, चौड़े रहा बजाय॥ ५॥

जब तक शरीर की आशा और आसक्ति है, तब तक कोई मन को मिटा नहीं सकता। अतएव शरीर का मोह और मन की वासना को मिटाकर सत्संग-मैदान में विराजना चाहिए॥ ५॥

भक्त मरे क्या रोइये, जो अपने घर जाय।
रोइये साकट बापुरे, हाटों हाट बिकाय॥ ६॥

जिसने अपने कल्याण रूपी अविनाशी घर को प्राप्त कर लिया ऐसे संत-भक्त के शरीर छूटने पर क्या रोते हो! बेचारे अभक्त-अज्ञानियों के मरने पर रोओ जो मरकर चौरासी के बाजार में बिकने जा रहे हैं॥ ६॥

अजहूँ तेरा सब मिटै, जो जग मानै हार।
घर में झगरा होत है, सो घर डारो जार॥ ७॥

आज भी तेरा संकट मिट सकता है यदि तू संसार से हार मानकर निरभिमानी हो जाय। तुम्हारे अहंकार रूप घर में जो काम-क्रोधादि का झगड़ा हो रहा है, उसे ज्ञानाग्नि से जला डालो॥ ७॥

मैं मेरा घर जालिया, लिया पलीता हाथ।
जो घर जारो आपना, चलो हमारे साथ॥ ८॥

संसार-शरीर में जो मैं-मेरापन की अहंता-ममता हो रही है—ज्ञान की आग-बत्ती हाथ में लेकर इस घर को जला डालो। अपने अहंकार-घर को जलाकर ही मेरा संगी बन सकते हो॥ ८॥

कबीर मिरतक देखकर, मति धारो विश्वास।
कबहूँ जागै भूत है, करै पिंडका नाश॥ ९॥

हे साधक! मन को शांत देखकर निडर मत होओ। अन्यथा वह तुम्हारे परमार्थ में मिलकर जाग्रत होगा और तुम्हें प्रपंच में डालकर पतित करेगा॥ ९॥

पाँचों इन्द्रिय छठाँ मन, सत संगत सूचंत।
कहैं कबीर जम क्या करे, सातो गाँठि निचिंत॥ १०॥

आंख, नाक, कान, जिह्वा तथा त्वचा इन पांच ज्ञान इन्द्रिय तथा छठें मन को सातवें सत्य चेतन स्वरूप में जिन्होंने जोड़ दिया है, गुरु कबीर कहते हैं कि ऐसे स्वरूपरत विवेकी को मन वासनारूपी यमराज क्या करेगा, उपर्युक्त सातों गाठें निश्चित हैं॥ १०॥

भाव—जो पांचों ज्ञान इन्द्रियों और छठे मन को सातवें स्वरूपज्ञान की साधना में लगाये रहते हैं वे मनोजयी होते हैं।

शब्द विचारी जो चले, गुरुमुख होय निहाल।
काम क्रोध व्यापै नहीं, कयूँ न ग्रासै काल॥ ११॥

गुरुमुख शब्दों का विचारकर जो आचरण करता है वह कृतार्थ हो जाता है। उसको काम-क्रोध नहीं सताते और वह कभी मन:कल्पनाओं के मुख में नहीं पड़ता॥ ११॥

सूर सती का सहल है, घड़ी इक का घमसान।
मरै न जीवै मरजिवा, धमकत रहे मसान॥ १२॥

सूर और सती का सरल है, एक ही घड़ी का उनका युद्ध है, परन्तु साधक को न मरना है न जीना है, बल्कि काम, क्रोधादि को ज्ञान के श्मशान में रात-दिन जलाकर भस्म करते रहना है॥ १२॥ ७५७॥

२९

भ्रम विध्वंस को अंग

(इस प्रसंग में भ्रान्तियों का निवारण किया गया है; यह प्रसंग जिनको कड़वा प्रतीत हो, वे भी क्षमा की दृष्टि से मनन करें।)

पाहन केरी पूतरी, करि पूजै संसार।
याहि भरोसे मत रहो, बूड़ो काली धार॥ १॥

पत्थर की मूर्ति बनाकर संसार के लोग पूजते हैं, परन्तु इसके भरोसे मत रहो, अन्यथा कल्पना के अन्धकार-कुएं में अपने को डूबे-डुबाये समझो॥ १॥

पाहन को क्या पूजिये, जो नहिं देय जवाब।
अंधा नर आशा मुखी, यों ही खोवै आब॥ २॥

जो उत्तर तक नहीं देता ऐसे पत्थर की मूर्ति को क्या पूजते हो! विवेक-हीन मनुष्य झूठे की आशा के मुख में पड़कर व्यर्थ ही अपने महत्त्व को खोता है॥ २॥

पाहन पूजै हरि मिलै, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते तो चक्की भली, पीसि खाय संसार॥ ३॥

यदि पत्थर के पूजने से ज्ञान या कल्याण की प्राप्ति हो तो मैं पर्वत को पूजने पर डट जाऊं। मूर्ति पूजने से तो चक्की पूजना अच्छा है, जिससे संसार आटा पीसकर खाता है॥ ३॥

पाहन ही का देहरा, पाहन ही का देव।
पूजनहारा आँधरा, क्यों करि मानै सेव॥ ४॥

पत्थर का मन्दिर और पत्थर का देवता और पूजने वाला अविवेकी। फिर वह जड़ देवता सेवा को क्या स्वीकार करेगा!॥ ४॥

पाहन पानी पूजिके, पचि मूआ संसार।
भेद अलहदा रहि गया, भेदवन्त सो पार॥ ५॥

पत्थर-पानी पूजकर संसारी अज्ञान में पच मुये। यथार्थ का रहस्य तो इससे पृथक है। सत्य का रहस्य जानने वाला ही भवसागर से पार होता है और वह सत्संग में मिलता है॥ ५॥

पाहन लै देवल रचा, मोटी मूरत माहिं।
पिण्ड फूटि परबश रहै, सो लै तारे काहिं॥ ६॥

पत्थर लेकर मन्दिर बनाया, उसमें लाकर पत्थर की मोटी मूर्ति रख दी। वह पराधीन जड़-मूर्ति स्वयं एक दिन फूटकर मिट्टी में मिल गयी, फिर वह किसको लेकर तारेगी!॥ ६॥

कबीर पाहन पूजि के, होन चहत भव पार।
भींजि पानि भेदै नदी, बूड़ै जिन सिर भार॥ ७॥

पत्थर पूजकर जो संसार-सागर से तरना चाहते हैं, ऐसे लोग संसार-नदी में प्रविष्ट होते ही अज्ञान-पानी से भींगकर सिर पर रखी कल्पना गठरी के भारी होते-होते डूब मरते हैं॥ ७॥

कबीर जेता आतमा, तेता सालिगराम।
बोलनहारा पूजिये, नहिं पाहन सो काम॥ ८॥

हे मनुष्यो! जितने प्राणी हैं, वे ही शालग्राम-भगवान हैं। बोलने-डोलने वाले को पूजो, पत्थर-पूजने से क्या प्रयोजन!॥ ८॥

कबीर सालिगराम का, मोहिं भरोसा नाहिं।
काल कहर की चोट में, बिनसि जाय छिन माहिं॥ ९॥

पत्थर के शालग्राम से हमें कल्याण-प्राप्ति का भरोसा नहीं है, क्योंकि वह तो काल के कठिन चोट से क्षण ही में विनष्ट हो जायगा॥ ९॥

पूजै सालिगराम को, मन की भ्रांन्त न जाय।
शीतलता सपने नहीं, दिनदिन अधिकी लाय॥ १०॥

शालग्राम को पूजते हैं, परन्तु मन की भ्रान्ति नहीं जाती। स्वप्न में भी उन्हें शीतलता नहीं मिलती, बल्कि दिन प्रतिदिन अधिक अज्ञान ताप में तपते रहते हैं॥ १०॥

सेवै सालिगराम को, माया सेती हेत।
पहिरै काली कामली, नाम धरावै सेत॥ ११॥

शालग्राम-पूजन एवं माया की मिताई रूपी अज्ञान की काली कमली ओढ़कर अपना नाम उज्ज्वल ज्ञानी या भक्त रखे हैं॥ ११॥

काजर केरी कोठरी, मसि के किये कपाट।
पाहन भूली पिरथवी, पंडित पाड़ी बाट॥ १२॥

अज्ञान रूपी काजल की कोठरी में कल्पना रूपी स्याही का किवाड़ लगाया। पत्थर के पूजने में पृथ्वी पर के जीव यथार्थ तत्त्व भूल गये और यह मार्ग पण्डितों ने निकाला॥ १२॥

मूरित धरि धंधा रचा, पाहन का जगदीश।
मोल लिया बोलै नहीं, खेटा बिसवाबीस॥ १३॥

पत्थर-मूर्ति का जगदीश रचकर या मोल लेकर धर लिया और उसी के पूजने का व्यवहार कर लिया। परन्तु निश्चयपूर्वक वह ऐसा खोटा निकला कि बोलता भी नहीं॥ १३॥

मन मक्का दिल द्वारिका, काया काशी जान।
दश द्वारे का देहरा, तामें ज्योति पिछान॥ १४॥

पवित्र मन ही मक्का है एवं दिल ही द्वारिका है और काया को ही काशी जानो। दस-द्वारों के शरीर-मन्दिर में ज्ञान प्रकाशमय स्व-स्वरूप चेतन को ही सत्य देवता समझो॥ १४॥

काँकर पाथर जोरि के, मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे, बहिरा हुआ खुदाय॥ १५॥

कंकर-पत्थरों को जोड़कर मसजिद चुनवा ली। उस पर चढ़कर मुल्ला बांग देता है, क्या इनका खुदा बहरा हो गया है, जो हल्ला करने पर सुनता है!॥ १५॥

यह कहा जा सकता है कि मुल्ला बांग देकर ईश्वर को नहीं पुकारता है किंतु नमाजियों को याद दिलाता है कि नमाज का समय हो गया है नमाज पढ़ो और संगठन, कर्मकांड एवं मजहब की दृष्टि से यह ठीक है; परन्तु कबीर साहेब सूफी एवं आत्मज्ञानी संत थे वे बांग एवं नमाज की आड़ में छिपे हुए ईश्वरीय अहंकार एवं दंभ पर चोट करते हैं। वे बताना चाहते हैं कि बांग-नमाज के सामान्य क्रियाकलाप में पूर्णता का भ्रम न कर लो, पाक दिल में पाक नूर का साक्षात्कार होता है। केवल ईश्वर का नाम लेकर हल्ला करने में अपनी उपासना की पूर्णता

मत मान लो। और वे उपासक कैसे हैं जो दिन में हर बार चिल्लाकर पुकारने पर उपासना का समय समझ पावें। दिखावे से हटकर अंतर्मुख होना चाहिए, यह कबीर साहेब का भाव है।

मुल्ला चढ़ि किलकारिया, अलह न बहिरा होय।
जेहि कारन तूँ बाँग दे, दिल ही अन्दर सोय॥ १६॥

मसजिद पर चढ़कर मुल्ला के किलकारी मारने (बांग देने) से अल्लाह बहरा नहीं होगा। जिसके लिए तू बांग देता है वह तो तेरे दिल के भीतर तेरा स्वरूप है अर्थात—तू ही सत्य है, तेरे से पृथक खुदा नहीं है॥ १६॥

तुरुक मसीहत देहर हिन्दू, आप आप को धाय।
अलख पुरुष घट भीतरे, ताका पार न पाय॥ १७॥

मुसलमान लोग मसजिद में और हिन्दू लोग देवालय में अपना-अपना करके दौड़ते हैं। रूप विषय रहित चैतन्य पुरुष तो हृदय के भीतर है, परन्तु उसका भेद नहीं जानते॥ १७॥

पूजा सेवा नेम व्रत, गुड़ियन का सा खेल।
जब लग पिव परसै नहीं, तब लग संसै मेल॥ १८॥

पूजा-नमाज, मूर्ति की सेवा, नियम-व्रत (उपवास-रोजा) सब कुमारी कन्या के गुड़ियों के खेल के समान हैं। जब तक यथार्थ पति नहीं पाती, तब तक वह गुड़िया खेलती है। इसी प्रकार जब तक स्व-स्वरूप चेतन-पति का बोध नहीं होता तब तक उपर्युक्त आडम्बर सत्य दिखता है॥ १८॥

जप तप दीखै थोथरा, तीरथ व्रत विश्वास।
सूवा सेमल सेइया, यों जग चला निराश॥ १९॥

नाम-जप, पंचाग्नि-तापन आदि तप, तीर्थ, उपवास-रोजा आदि सब छिछले दिखलाई पड़ते हैं। जैसे सेमल के फल का सेवन करके सुग्गा निराश हुआ, वैसे उपर्युक्त आडम्बरों में फंसे लोग निराश होते हैं॥ १९॥

न्हाये धोये क्या भया, जो मन मैल न जाय।
मीन सदा जल में रहै, धोये बास न जाय॥ २०॥

तीर्थ आदि में नहाने-धोने से क्या होता है यदि मन का मैल नहीं जाता। मछली सदैव पानी में ही रहती है, परन्तु धोने पर भी उसकी दुर्गंधी नहीं जाती॥ २०॥

निरमल गुरू के ज्ञान सो, निरमल साधू भाय।
कोइला होय न ऊजला, सौ मन साबुन लाय॥ २१॥

साधु-गुरु के निर्दोष ज्ञान से सत्पात्र ही निर्दोष होते हैं, हठी-शठी नहीं। सौ मन साबुन लगाने पर भी कहीं कोयला उजला होता है!॥ २१॥

मनही में फूला फिरै, करता हूँ मैं धर्म।
कोटि कर्म सिर पर चढ़े, चेति न देखे मर्म॥ २२॥

हिन्दू-मुसलमान अपने-अपने मन में फूले-फूले फिरते हैं और कहते हैं कि हम धर्म करते या ईमान से चलते हैं। मिथ्या आडम्बर या हिंसादि कर्मों से करोड़ों अघकर्म इनके सिर पर चढ़े हैं, किन्तु सावधान होकर इसका रहस्य नहीं देखते॥ २२॥

मरती विरियाँ दान दे, जीवन बड़ा कठोर।
कहैं कबीर क्यों पाइये, खाड़ा का व चोर॥ २३॥

कितने लोग जीवनपर्यन्त हिंसादि कठोर कर्म करते हैं और मरते समय वैतरणी से तरने के लिए गौ-दान आदि करते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि तलवार की चोरी करके बदले में सूई का दान कर ये कैसे उद्धार पायेंगे॥ २३॥

सब बन तो तुलसी भई, परबत सालिगराम।
सब नदियें गंगा भई, जाना आतम राम॥ २४॥

जब अपने स्वरूप-राम को जान लिया, तब सब वनस्पतियां और तुलसी, सब पर्वत और शालग्राम तथा सब नदियां और गंगा—एक समान हो गयीं॥ २४॥

पाँच तत्त्व का पूतरा, रज बीरज की बूँद।
एकै घाटी नीसरा, ब्राह्मन क्षत्री सूद्र॥ २५॥

अविनाशी जीवयुक्त रज-वीर्य के बुन्द मिलकर पृथ्वी, जल, तेजादि जड़ तत्त्वों के पुतले-शरीर माता के गर्भ में बनकर एक ही द्वार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मुसलमान, इसाई, यहूदी सब प्रकट हुए। अब इनमें कौन ऊंचा-नीचा या अपना-पराया है, सब भाई-भाई हैं॥ २५॥

अकिल बिहूना आदमी, जानै नहीं गँवार।
जैसे कपि परबस पर्यो, नाचै घर घर द्वार॥ २६॥

परन्तु बुद्धिहीन गंवार मनुष्य ऐसा नहीं जानता। जैसे बन्दर मदारी के वश में

पड़कर घर-घर एवं द्वार-द्वार नाचते हैं, वैसे मताभिमानी अपने-अपने अहंकार के वश होकर नाचते हैं ॥ २६ ॥

अकिल बिहूना सिंह ज्यों, गयो ससा के संग।
अपनी प्रतिमा देखिके, कीयो तन को भंग ॥ २७ ॥

जैसे बुद्धिहीन सिंह शशा के साथ अहंकार-वश जाकर और कुएं के जल में अपना प्रतिबिम्ब देखकर एवं उसमें कूदकर अपना शरीर नष्ट कर दिया, वैसे सब अहंकार में मारे जाते हैं ॥ २७ ॥

अकिल बिहूना आँधरा, गज फन्दे पड़ो आय।
ऐसे सब जग बँधिया, काहि कहूँ समझाय ॥ २८ ॥

बुद्धिहीन मदान्ध हाथी जैसे बन्धन में पड़ गया, वैसे जगत के सारे जीव अहंकार में बंधे हैं, किसे समझाकर कहूं! ॥ २८ ॥

पंख होत परबस पर्यो, सूवा के बुधि नाहिं।
अकिल बिहूना आदमी, यों बन्धा जग माहिं ॥ २९ ॥

पंख होते हुए अज्ञान-वश सुग्गा पर-वश पड़ गया, इसी प्रकार बुद्धिहीन मनुष्य बन्धायमान हुआ ॥ २९ ॥

नोट—सिंह, हाथी और सुग्गा का उदाहरण 'बीजक व्याख्या' 'आपन पौ आपुहि बिसर्यौ' शब्द ७६ में देखिये।

बिना बसीले चाकरी, बिना बुद्धि की देह।
बिना ज्ञान का जोगना, फिरै लगाये खेह ॥ ३० ॥

बिना सहायता के नौकरी नहीं मिलती, बिना बुद्धि की नर-देह दो कौड़ी की है। इसी प्रकार बिना स्वरूपज्ञान के योग करना केवल धूल लगाकर घूमना है ॥ ३० ॥

दुविधा जाके मन बसै, दयावन्त जिय नाहिं।
कबीर त्यागो ताहि को, भूलि देहि जनि बाहिं ॥ ३१ ॥

जिसके मन में दुविधा की दुगदुगी है और हृदय में दया-भाव नहीं है, ऐसे मनुष्य का साथ छोड़ दो, भूलकर भी साथ न लो ॥ ३१ ॥

चिउँटी चावल ले चली, बिच में मिल गयी दाल।
कहैं कबीर दो न मिलै, इक ले दूजी डाल ॥ ३२ ॥

चींटी चावल लेकर जा रही थी, इतने में उसे बीच में दाल मिल गयी। गुरु कबीर कहते हैं, वह दोनों तो नहीं ले सकती, एक लेकर दूसरा त्यागना ही पड़ेगा (अन्यथा 'दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम')॥ ३२॥

आगा पीछा दिल करै, सहजै मिलै न आय।
सो बासी जमलोक का, बाँधा जमपुर जाय॥ ३३॥

गुरु-ज्ञान लेने से जिसके मन में आगा-पीछा होता है (दुविधा में पड़ा है), जो निर्भय होकर सीधे सद्गुरु-सत्संग में आकर ही नहीं मिलता, वह तो कुकर्मों में निवास करने वाला है और अपने अहंकार में बंधकर नीची योनियों में जायेगा॥ ३३॥

पढ़ा सुना सीखा सभी, मिटी न संसै सूल।
कहैं कबीर कासों कहूँ, यह सब दुख का मूल॥ ३४॥

ज्ञान की सब बातें पढ़ीं, सुनीं और सीखीं, परन्तु भ्रम की टाटी नहीं कटी एवं मन का शोक नहीं गया। गुरु कबीर कहते हैं कि किससे कहा जाय, इन सब दुखों की जड़ अहंकार ही है॥ ३४॥

तेरे हिय में राम है, ताहि न देखा जाय।
ताको तो तब देखिये, दिल की दुविधा जाय॥ ३५॥

तेरे हृदय में ही राम है, विवेक की आंखों से उसको तो देखता नहीं। उसका साक्षात्कार तभी होगा, जब तुम्हारे मन से बाहरी राम-रहीम का सन्देह मिट जायेगा॥ ३५॥

कुबुधी को सूझै नहीं, उठि उठि देवल जाय।
दिल देहरा को खबरि नहिं, पाथर ते कह पाय॥ ३६॥

कुबुद्धि जीव को तो सूझता ही नहीं, वह तो नित्य उठ-उठकर मन्दिर-मसजिद में जाता है। उसको हृदय-मन्दिर का पता नहीं है कि इसी में राम-रहीम विराजमान हैं। भला! ये लोग पत्थर की मूर्ति या मसजिद में क्या पायेंगे!॥ ३६॥

भाव—मन्दिर-मसजिद अपने ढंग से केवल उपासना करने की जगहें हैं। यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि वहां परमात्मा मिलेगा। परमात्मा तो हृदय-निवासी चेतन है।

सिदक सबूरी बाहिरा, कहा हज्ज को जाय।
जिनका दिल साबित नहीं, तिनको कहा खुदाय॥ ३७॥

सच्चाई और सन्तोष रखने से तो बाहर पड़े हैं, (अर्थात सच्चाई और सन्तोष नहीं रखते) फिर हज्ज जाने से क्या हुआ! जिनका दिल साफ नहीं है, उनको खुदा कहां मिलेगा!॥ ३७॥

भाव—सत्य स्वरूप में सन्तुष्ट होओ। तीर्थ-हज्ज में मत भटको! मन को पवित्र करो, फिर खुद ही खुदा है। सिदक (सिद्क़)=सच्चाई, निष्कपट भाव, दिल की सफाई। सबूरी=संतोष।

आतम दृष्टि जानै नहीं, न्हावै प्रातःकाल।
लोकलाज लिया रहै, लागा भरम कपाल॥ ३८॥

स्वरूपज्ञान की दृष्टि तो है ही नहीं और प्रातःकाल स्नान करता है। लोक की लज्जा लेकर बैठा है, सिर पर नाना भ्रम चढ़े हैं॥ ३८॥

लिखा पढ़ी में सब पड़े, यह गुन तजै न कोय।
सबै पड़े भ्रम जाल में, डारा यह जिय खोय॥ ३९॥

नाना ग्रंथों की भ्रमात्मक लिखी-पढ़ी बातों में सब पड़े हैं। इस पक्षपात को कोई नहीं त्यागता। अतएव सब भ्रम के जाल में पड़कर अपने आप के ज्ञान को खो डाले हैं॥ ३९॥ ७९६॥

भाव—वेद-कुरान-बाइबिल आदि का बनाने वाला, हिन्दू-मुसलमान-इसाई आदि मत-मजहबों की कल्पना करने वाला तथा ईश्वर-अल्लाह, देवी-देवता, भूत-प्रेत, तीर्थ-मूर्ति, रोजा-नमाज की कल्पना करने वाला—जीव ही सर्वोपरि है। वह जीव तुम्हीं हो। बुराई त्यागकर भलाई करो। जीव मात्र को अपना भाई समझो। मन-इन्द्रियों का संयम कर स्वरूप-ज्ञान में निष्ठ होओ, यही सार्वभौम एवं सार्वजनीन सिद्धान्त है।

कहता है खुदा खुद से जुदा जानो अधूरा है।
दिखला दे खुद ही में खुदा पीर उसे कहते हैं॥

३०

सारग्राही को अंग

(सबसे सार ग्रहण करना मनुष्य का परम कर्तव्य है।)

साधू ऐसा चाहिये, जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै, देइ असार बहाय॥ १॥

जैसे सूप सार-चावल को ग्रहण कर, असार-भूसी को उड़ा देता है, वैसे साधु या सज्जन का स्वभाव होना चाहिए, वह सबकी बुराइयों को छोड़कर केवल गुणों को ग्रहण करे॥ १॥

सत्संगति है सूप ज्यों, त्यागै फटकि असार।
कहैं कबीर गुरु नाम ले, परसै नहीं विकार॥ २॥

सत्संग सूप के तुल्य है, वह फटककर असार का त्याग कर देता है। तुम भी गुरु-ज्ञान लो, बुराइयों को छूओ तक नहीं॥ २॥

पहिले फटकै छाज के, थोथा सब उड़ि जाय।
उत्तम भाँड़े पाइया, जो फटकै ठहराय॥ ३॥

छाज (सूप) में पहले फटकने पर सब भूसी उड़ जाती है। फटकने के पश्चात जो सूप-पात्र में ठहर जाय, वही उत्तम चावल है, वही ग्रहण करने योग्य है॥ ३॥

भाव—सत्संग-विवेक करने पर असार बातें उड़ जाती हैं, सत्य बातें अकाट्य होती हैं, वही यथार्थ और ग्रहण योग्य हैं।

हंसा पय को काढ़िले, क्षीर नीर निरुवार।
ऐसे गहै जु सार को, सो जन उतरै पार॥ ४॥

जैसे हंस नीर-क्षीर पृथक कर केवल क्षीर ही को ग्रहण कर लेता है, वैसे जड़-चेतन, दोष-गुण का विवेक कर केवल चेतन एवं गुण को ग्रहण करने वाले ही भव-पार होते हैं॥ ४॥

चुम्बक काढ़ै सार कूँ, जोरे मिलावै रेत।
साधू काढ़ै जीव को, उर अन्तर के हेत॥ ५॥

जैसे धूल में मिले हुए लोह-कण को चुम्बक निकाल लेता है, वैसे हृदय अन्तर में द्रवित कृपालु सन्त-जन अपने विवेक-द्वारा जड़ तत्त्वों से पृथक अविनाशी चेतन जीव का स्वरूप दर्शाते हैं और जिज्ञासु जीवों को जड़ाध्यास से निकाल लेते हैं॥ ५॥

रक्त छाड़ि पय को गहै, ज्यों रे गऊ का बच्छ।
औगुन छाड़ै गुन गहै, सार गिराही लच्छ॥ ६॥

जैसे गाय का बछड़ा गाय का रक्त छोड़कर केवल दूध ग्रहण करता है, वैसे सारग्राही संत-सज्जनों का लक्षण होता है, वे सबके अवगुणों को त्यागकर केवल गुण ग्रहण करते हैं॥ ६॥ ८०२॥

३१

असारग्राही को अंग

(इस प्रसंग में यह बताया गया है कि कुबुद्धि लोग सार को त्यागकर असार ही ग्रहण करते हैं।)

कबीर कीट सुगन्ध तजि, नरक गहै दिन रात।
असार गिराही मानवा, गहै असारहिं बात॥ १॥

गुरु कबीर कहते हैं कि नरक का कीड़ा सुगन्धी त्यागकर रात-दिन नरक ग्रहण करता है; इसी प्रकार असारग्राही मनुष्य किसी के जीवन से केवल असार बात को ही ग्रहण करता है॥ १॥

मच्छी मल को गहत है, निरमल वस्तुहिं छाँड़ि।
कहैं कबीर असार मत, माड़ि रहा मन माँड़ि॥ २॥

शुद्ध वस्तु को त्यागकर मछली मल को ही खाती है; इसी प्रकार बुरे मनुष्य के मन में बुरी बातों का ही सिद्धांत जमा रहता है॥ २॥

आटा तजि भूसी गहै, चलनी देखु विचार।
कबीर सारहिं छाड़ि के, गहै असार असार॥ ३॥

विचारकर देखो! चलनी आटा (पिसान) को त्यागकर केवल भूसी को ही अपने पेट में रख लेती है; इसी प्रकार बुरा मनुष्य अच्छी बात को छोड़कर केवल बुरी बात को ही ग्रहण कर लेता है॥ ३॥

रस छाड़ै सीठी गहै, कोल्हू परगट देख।
गहै असार असार को, हिरदै नाहिं विवेक॥ ४॥

प्रत्यक्ष देखो! कोल्हू रस को त्यागकर केवल खोइया ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार विवेक से शून्य हृदय वाला मनुष्य केवल बुरी-बुरी बातों को ग्रहण करता है॥ ४॥

दूध त्यागि रक्तहिं गहै, लगी पयोधर जोंक।
कहैं कबीर असार मति, छल ना राखै पोक[१] ॥५॥

गौ के स्तन में जब जोंक लगती है, तब दूध को न निकालकर केवल रक्त निकालती है। गुरु कबीर कहते हैं कि असारग्राही बुद्धि वाला छली मनुष्य किसी गुण में सन्तोष नहीं रखता ॥५॥

लोहू गहि दूधै तजै, जोंक स्वभाव परख।
ऐसा ही नर आँधरा, सार से जाय सरक। ६॥

जोंक के स्वभाव को परखो! दूध त्यागकर रक्त ग्रहण करने वाली जोंक के सदृश ही अविवेकी अन्धे मनुष्य किसी के अच्छे गुणों से दूर भागते और दोषों का अमृतवत चयन करते हैं ॥६॥

बूटी याटी पान करे, कहै दुःख जो जाय।
कहैं कबीर सुख न गहै, यही असार सुभाय ॥७॥

मदिरा-मांस पी-खाकर जो कहते हैं कि हमारा दुख दूर हो जायेगा और सुख प्राप्त होगा, उनको कभी सुख नहीं मिल सकता। असार-ग्रहण का यही स्वभाव है ॥७॥

पापी पुन्न न भावई, पापहि बहुत सुहाय।
माखि सुगन्धी परिहरै, जहँ दुरगन्ध तहँ जाय ॥८॥

पापात्मा मनुष्य को पुण्य-कार्य अच्छे नहीं लगते, उसको पाप ही बहुत अच्छे लगते हैं। मल-कीट सुगन्धित पदार्थों को त्यागकर वहीं जाता है जहां दुर्गन्ध हो ॥८॥

निरमल छाड़ै मल गहै, जनम असारे खोय।
कहैं कबीर सार तजि, आपन गये बिगोय ॥९॥

दूसरे के निर्मल सद्गुणों को छोड़कर दुर्गुण ग्रहण करने वाले मनुष्य अपना जीवन व्यर्थ ही खोते हैं; और व्यर्थ ही नहीं, बल्कि सबके दोषों को ग्रहण कर वे पूर्णरूपेण नष्ट हो जाते हैं ॥९॥८११॥

---

१. पोक-पोष-सन्तोष।

३२
पारख को अंग

(इस प्रसंग में पारख एवं परीक्षा की बात बतायी गयी है।)

कबीर देखी परखि ले, परखी के मुँह खोल।
साधु असाधु जानि ले, सुनि सुनि मुख का बोल॥ १॥

ऐ जिज्ञासुओ! प्रथम भलीभांति देखो और परखो और परखकर ही उसके विषय में कुछ बात बोलो। दूसरे की साधुता-असाधुता की परख उसके वचनों को सुन-सुन कर करो॥ १॥

कबीर देखी परखि ले, परखि के मुखा बुलाय।
जैसी अन्तर होयगी, मुख निकसेगी आय॥ २॥

किसी के मिलने पर प्रथम उसको देखो, परखो और परखकर उससे कुछ पूछो। उसके हृदय की जैसी भावना होगी, मुख से उसी प्रकार बात निकलेगी॥ २॥

पहिले शब्द पिछानिये, पीछै कीजै मोल।
पारखि परखै रतन को, शब्द का मोल न तोल॥ ३॥

किसी के मिलने पर पहले उसके शब्दों को सुनकर उसको पहचान लो; योग्यता होने पर पीछे उससे बातचीत या निर्णय करो। पारखी रत्न को परखता (विवेकी यथार्थ ज्ञान को परखता) है, निर्णय शब्द का मोल-तोल नहीं है॥ ३॥

हीरा तहाँ न खोलिये, जहँ खोटी है हाट।
कसि करि बाँधी गाठरी, उठि करि चालो बाट॥ ४॥

जहां कर्मी-उपासकों की गोष्ठी है, वहां स्वरूपज्ञान-हीरे को मत खोलो। बल्कि उसे अपने हृदय में दृढ़ता से धारणकर मौनवृत्तिपूर्वक उठकर अपना मार्ग पकड़ो॥ ४॥

हीरा परखै जौहरी, शब्दहिं परखै साध।
कबीर परखै साधु को, ताका मता अगाध॥ ५॥

खरे-खोटे हीरे को जौहरी परखता है और सार-असार शब्दों को विवेकी-पारखी सन्त परखते हैं। परन्तु कच्चा साधु कौन है तथा सच्चा साधु कौन है, इसको जो परख कर लेता है, उसका विचार अधिक गम्भीर है॥ ५॥

हरि हीरा जन जौहरी, ले ले माँड़ी हाट।
जबरे मिलेगा पारखी, तब हीरों की साट॥ ६॥

ज्ञान रूपी हीरा को ज्ञानी रूपी जौहरी जन सत्संग बाजार में रखे हैं। परन्तु जब कोई पारखी मिलेगा, तब पारख से तुलना करके इनके ज्ञानों का रहस्य खोलेगा॥ ६॥

भाव—जब तक पारखी नहीं मिलते तब तक कच्चा ज्ञान भी सच्चा बना रहता है, परन्तु पारखी के मिल जाने पर किसी की धोखेबाजी नहीं चलती।

जो जैसा उनमान का, तैसा तासों बोल।
पोता को गाहक नहीं, हीरा गाँठि न खोल॥ ७॥

जो जिस परिमाण (नाप-तौल-हिसाब) का मनुष्य हो, उससे उसी प्रकार बात करो। जो कांच का भी ग्राहक नहीं है, उसके सामने हीरे की गठरी खोलना व्यर्थ है॥ ७॥

जब गुन को गाहक मिलै, तब गुन लाख बिकाय।
जब गुन को गाहक नहीं, कौड़ी बदले जाय॥ ८॥

जब गुण का ग्राहक मिलता है, तब वह लाख रुपये का बिकता है और जब ग्राहक नहीं मिलता, तब कौड़ी के बदले में जाता है॥ ८॥

भाव—पारखी ही स्वरूपज्ञान का आदर करेगा। बेपारखी क्या करेगा!

एक बार में परखिये, न वह बारम्बार।
बालू तौहू किरकिरा, जो छानै सौ बार॥ ९॥

किसी मनुष्य को ठीक से एक बार परख लो, फिर बारम्बार उसे परखने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। महीन-से-महीन वस्त्र में बालू को यदि सौ बार छाना जाय तो भी उसकी किरकिराहट नहीं जा सकती॥ ९॥

भाव—शठ मनुष्य को चाहे अनेकों बार परखो, वह शठता से ही पूर्ण मिलेगा।

ज्ञानी जन है जौहरी, करमी सकल मजूर।
देह भार का टोकरा, लिये शीश भरपूर॥ १०॥

ज्ञानी जन तो जौहरी हैं और कर्मकांडी लोग मजदूर हैं। वे देह रूपी टोकरी में कर्मों का बोझा अपने सिर पर लादे घूमते हैं॥ १०॥

कबीर जग के जौहरी, घट की आँखी खोल।
तुला सम्हारि विवेक की, तोलै शब्द अमोल॥ ११॥

हे जिज्ञासु! जगत में पारखी सन्त अन्तःकरण के विवेक-वैराग्य की आंखें खोल देते हैं। वे विवेक का तराजू उठाकर अनमोल सार शब्दों को तौलते हैं॥ ११॥

गाहक मिलै तो कुछ कहूँ, ना तरु झगड़ा होय।
अन्धो आगे रोइये, अपना दीदा खोय॥ १२॥

यदि मेरे खरे स्वरूपज्ञान का कोई ग्राहक मिले, तो मैं कुछ कहूं, अन्यथा अविवेकी के सामने कुछ कहने पर झगड़ा होगा। अन्धों के आगे रोना क्या है, अपनी आंखें फोड़ना है॥ १२॥

जो हंसा मोती चुगै, काँकर क्यों पतियाय।
काँकर माथा न नवै, मोती मिलै तो खाय॥ १३॥

जो विवेकी असार जड़-विषय त्यागकर सत्य स्वरूप चैतन्य ज्ञान की स्थिति में रत है, वह कंकड़ रूप असार कल्पित कथा-कहानी में कब विश्वास करेगा! वह कंकड़ के लिए मस्तक नहीं झुकायेगा, मोती मिलने पर ही उसे चुगेगा (विवेकी पुरुष असार मतों के सामने नहीं झुकेगा, यथार्थ ज्ञान मिलने पर ही उसका आदर करेगा)॥ १३॥

हंसा बगुला एक सा, मानसरोवर माँहि।
बगा ढिंढोरा माछरी, हंसा मोती खाँहि॥ १४॥

मानसरोवर में हंस-बगुले दोनों एक रंग के विचरते हैं, परन्तु बगुला मछली खोजता है और हंस मोती[1] चुगता है॥ १४॥

---

१. हंस मोती चुगता है यह कहावत मात्र है। न मोती की इतनी अधिकता है कि वह उसे चुगे और न वह चुगकर संभवतः पचा ही सकता है। परन्तु सिद्धांत में बात ठीक है कि विवेकी सत्य ग्रहण करते हैं।

भाव—संसार में एक सदृश वेष में अनेकों मनुष्य घूमते हैं, परन्तु उनके अच्छे-बुरे की परख उनके आचरणों से होती है।

चन्दन गया विदेशरे, सब कोइ कहै पलास।
ज्यों ज्यों चूल्हे झोंकिया, त्यों त्यों अधिक सुवास॥ १५॥

चन्दन की लकड़ी कहीं विदेश ले जायी गयी, लोग अपने अनभिज्ञतावश उसे पलास कहने लगे। परन्तु जैसे-जैसे उसे चूल्हे में लगाते गये, वैसे-वैसे उसकी सुगन्धी निकलती गयी (तब लोगों को पता चला कि यह चन्दन है)॥ १५॥

भाव—अपरिचित में ज्ञानी पुरुष का महत्त्व लोग नहीं समझते, परन्तु धीरे-धीरे उनके ज्ञान-आचरण से लोगों में उनका महत्त्व प्रकट हो जाता है।

एक अचम्भा देखिया, हीरा हाट बिकाय।
। परखन हारा बाहिरो, कौड़ी बदले जाय॥ १६॥

बाजार में हीरा बिक रहा था, वहां एक आश्चर्य देखा कि उसका परखने वाला ऐसा पागल था कि (हीरा का महत्त्व न जानने से) वह कौड़ी के बदले में भी नहीं लेना चाहता था ॥ १६॥

भाव—अज्ञानी लोग भोगों के सामने ज्ञान का महत्त्व नहीं जानते।

मन उनमान न तोलिये, शब्द क मोल न तोल।
मूरख लोग न जानसी, आपा खोयो बोल॥ १७॥

मन की कल्पना से शब्दों की तौल न करो, (बड़े विवेक से सार-असार शब्दों की परख होती है) यथार्थ शब्द अनमोल होता है। भूले लोग तो विवेक करना जानते नहीं, वे मिथ्या रोचक वाणियों को सुनकर अपने आप की सुध-बुध खो दिये हैं॥ १७॥

कबीर . गुदरी बीखरी, सौदा गया बिकाय।
खोटा बाँधा गाँठरी, खरा लिया नहिं जाय॥ १८॥

सत्संग-बाजार फैला और ज्ञान-सौदा बिक गया (लेने वाले पारखी ले लिये)। जो अपनी गठरी में खोटा दाम बांधकर लाये, उनसे खरा ज्ञान का सौदा नहीं लिया जाता (जिसके पास श्रद्धा तथा निष्पक्षता नहीं है, वह यथार्थ ज्ञान नहीं ले सकता)॥ १८॥

कबीर खाँड़हिं छाँड़िके, क़ाँकर चुनि चुनि खाय।
रतन गँवाया रेत में, फिर पाछे पछिताय॥ १९॥

जगत जीव शकर को त्यागकर कंकड़ चुन-चुन कर खाते हैं। रत्न को धूल में खोकर पीछे पश्चाताप करते हैं॥ १९॥

भाव—लोग सत्य त्यागकर असत्य में भटकते हैं।

पप्पा सो परिचय नहीं, दद्दा रहिगौ दूर।
लल्ला लौ लागी रहे, नन्ना सदा हजूर॥ २०॥

पुण्य-कर्मों से परिचय तक नहीं है, ज्ञान-दाता सद्गुरु से भी दूर पड़ा है, मायावी पदार्थों में लोभ-लालच लगा है, जिसमें सदैव नहीं-नहीं (अभाव) ही सामने रहता है॥ २०॥

जोइ कुरंग जब चित मिलै, रहै शब्द लौ लाय।
भैंस के आगे बीन ज्यों, वह बैठी पगुराय॥ २१॥

जैसे शब्द (स्वर) का आदर करना मृगा जानता है, वैसे जब कोई निर्णय वचनों का प्रेमी मिलता है, तब हृदय से गद्गद होकर सत्य वचनों में लक्ष्य लगाता है। मूढ़ मनुष्यों के सामने उपदेश करना वैसे ही व्यर्थ जाता है, जैसे भैंस के आगे बीन बजाने पर, वह उसमें किंचित भी आकर्षित नहीं होती और बैठी पागुर (जुगाली) करती है॥ २१॥

वक्ता ज्ञानी जगत में, पंडित कवी अनन्त।
सत्य पदारथ पारखी, बिरला कोई सन्त॥ २२॥

वक्ता, ज्ञानी, पण्डित, कवि—जगत में बहुत हैं। परन्तु सत्य-वस्तु के पारखी विरले संत हैं॥ २२॥

ज्ञान जीव को धर्म है, भर्म त्रास जो मेट।
साँच पन्थ पावै परखि, जब तिहि सद्गुरु भेट॥ २३॥

जीव का स्वभाव ही ज्ञान है (अर्थात वह केवल ज्ञान से ठोस है), ऐसा जानकर स्व-स्वरूप से अतिरिक्त जहां तक भ्रांतियां हैं, सबको नष्ट कर डालो। जब जिज्ञासु को यथार्थ सद्गुरु मिलते हैं, तब वह सत्यपन्थ परख पाता है॥ २३॥

हीरा पड़ा जु गैल में, दुनिया जामें डोल।
जहाँ हीरा का पारखी, तहँ हीरा का मोल॥ २४॥

जिस मार्ग में होकर संसारी लोग आते-जाते हैं, उसी मार्ग में हीरा पड़ा है (परन्तु वे उसको कांच समझते हैं)। जहां हीरा का पारखी होगा, वहीं हीरे का मूल्य होगा॥ २४॥

भाव—संसारियों के बीच में होकर विवेकी सन्त निकलते हैं, परन्तु वे सन्त को नहीं परख पाते। कोई पारखी परखता है।

अन्धे औघट जात है, चारों लोचन नाहिं।
सन्त उपकारी ना मिला, छोड़े बस्ती माहिं॥ २५॥

(बाहर के दोनों नेत्रों तथा भीतर के विवेक-विचार) चारों नेत्रों से हीन अन्धे लोग कुघाट (कुपन्थ) में जा रहे हैं। ऐसे उपकारी सन्त नहीं मिले कि उनका हाथ पकड़कर सत्संग एवं सत्य ज्ञान की बस्ती में लाकर छोड़ दें॥ २५॥

जब लगि लाल समुद्र में, तब लगि लख्यो न जाय।
निकसि लाल बाहरि भया, मँहगे मोल बिकाय॥ २६॥

जब तक रत्न समुद्र में पड़ा रहता है, तब तक वह देखने में नहीं आता। जब उससे निकलकर बाहर हो जाता है, तब वह बड़े मूल्य में बिकता है॥ २६॥

भाव—मनुष्य-रत्न जब तक संसार की विषय-वासनाओं से ढका है, तब तक उसकी उत्तमता नहीं दिखती, परन्तु उससे निकलते ही वह मूल्यवान हो जाता है।

साधु परखिये शब्द में, रहनी तैसी भास।
नाना विधि के पुहुप हैं, फूलै तैसी बास॥ २७॥

साधु को, उनकी रहनी और बोली में परखो। जैसे नाना प्रकार के फूल खिलने पर उनकी सुगन्धी से उनकी परख होती है॥ २७॥ ८३८॥

३३
कथनी को अंग

(केवल कथनी काम नहीं देती, रहनी ही उत्तम है—
इस विषय को इस प्रसंग में बताया गया है।)

कथनी कथै तो क्या हुआ, करनी न ठहराय।
कालवूत का कोट ज्यों, देखत ही ढहि जाय॥ १॥

केवल ज्ञान की कथनी करने से क्या होता है, जब आचरण में स्थिरता नहीं है। जैसे कागज का महल देखते ही गिर पड़ता है, वैसे आचरणरहित मनुष्य शीघ्र पतित होता है॥ १॥

कथनी काची होय गयी, करनी करी न सार।
स्रोता बक्ता मरि गया, मूरख अनन्त अपार॥ २॥

यदि ज्ञान को आचरण में उतारने का लाभ न उठाया, तो कथनी कच्ची ही रह जाती है। आचरण-बिना असंख्य अपार मूर्ख श्रोता-वक्ता प्रपंच-धारा में बहकर मर गये॥ २॥

कथनी मीठी खाँड़ सी, करनी विष की लोय।
कथनी से करनी करे, विष से अमृत होय॥ ३॥

वे बड़े ही भयंकर जीव हैं जो कथनी तो शक्कर के समान मीठी-मीठी करते हैं और उनकी करनी विष के गोला सदृश रहती है। उत्तम कथनी के समान ही जो करनी भी करता है, वह नीच से श्रेष्ठ हो जाता है॥ ३॥

कथनी बदनी छाँड़ि दे, करनी सो चित लाय।
नर सो जल प्याये बिना, कबहूँ प्यास न जाय॥ ४॥

केवल वक्तव्य का अभिमान करना छोड़कर, कर्तव्य में मन लगाओ। बिना जल पीये मनुष्य की प्यास कभी नहीं जा सकती॥ ४॥

कथनी कथि फूला फिरै, मेरे हिये उचार।
भाव भक्ति समझै नहीं, अन्धा मूढ़ गँवार॥ ५॥

केवल वाणी का वक्तव्य कर मन में फूला-फूला फिरता है कि मेरे हृदय एवं मुख से कैसी सुन्दर शैली से धारावाहिक उच्चारण होता है, परन्तु विवेक-हीन गंवार मनुष्य भाव-भक्ति नहीं समझता ॥ ५ ॥

कथनी थोथी जगत में, करनी उत्तम सार।
कहैं कबीर करनी भली, उतरे भवजल पार ॥ ६ ॥

केवल कथनी संसार में हलकी वस्तु है, करनी उत्तम एवं लाभकर है। गुरु कबीर कहते हैं कि करनी ही श्रेष्ठ है, जिससे संसार-सागर से जीव उद्धार पाता है ॥ ६ ॥

कथनी के सूरे घने, थोथे बाँधे तीर।
बिरह बान जिनके लगा, तिनके बिकल शरीर ॥ ७ ॥

केवल वक्तव्य के बड़े शूर-वीर लोग फल (धार) बिना तीर बांधे घूमते हैं (आचरण-बिना लेक्चर झाड़ते फिरते हैं)। परन्तु कल्याण का विरह-बाण जिसको लगा है, उस आचरण-सम्पन्न मुमुक्षु का शरीर शांति-प्राप्ति-बिना व्याकुल रहता है ॥ ७ ॥

कूकस कूटै कन बिना, बिन करनी का ज्ञान।
ज्यों बन्दूक गोली बिना, भड़क न मारै आन ॥ ८ ॥

स्वयं आचरण धारण किये बिना ज्ञान का वक्तव्य करना चावल बिना भूसी कूटना है। सच्ची गोली के बिना (केवल नकली गोली से) बन्दूक में मात्र शब्द होता है, दूसरे को मार नहीं सकती ॥ ८ ॥

भाव—आचरण-हीन वक्ता के वक्तव्य का प्रभाव जनता पर नहीं पड़ता।

आप राखि परमोधिये, सुनै ज्ञान अकराथि।
तुस कूटै कन बाहिरी, कछू न आवै हाथि ॥ ९ ॥

अपने को आचरण में स्थित रखकर दूसरे को उपदेश करो, फिर तुम्हारे उत्तम ज्ञान को लोग सुनेंगे। व्यर्थ भाषण न करो, चावल-रहित भूसी कूटने से तो कुछ भी हाथ में नहीं आता ॥ ९ ॥

पद जोरै साखी कहै, साधन पड़ि गयी रोस।
काढ़ा जल पीवै नहीं, काढ़ि पीवन की होस ॥ १० ॥

पद-साखी (छन्द) बनाकर कहने लगा, परन्तु साधन-अभ्यास सूखा पड़ गया। कूप से निकाला हुआ स्वच्छ जल नहीं पीता, स्वयं निकालकर पीने की महत्त्वाकांक्षा है॥ १०॥

साखी लाय बनाय के, इत उत अच्छर काटि।
कहँ कबीर कब लगि जिये, जूठी पत्तर चाटि॥ ११॥

(कवि बनने की तृष्णा से) इधर-उधर (दूसरे की कविता) के अक्षर-पदांश काटकर और लाकर साखी-शब्द बनने लगे। श्री कबीर साहेब कहते हैं कि जूठी पत्तल चाटकर कब तक जीयोगे!॥ ११॥

भाव—साधन-अनुभव एवं योग्यता-बिना कविता बनाना परिश्रम मात्र पड़ता है। दूसरे लोग जब उसका आदर नहीं करते, तब अपने मन में दुख उत्पन्न होता है। अतएव ऐसे लोगों को व्यर्थ कवि बनने की चेष्टा छोड़कर साधना करना चाहिए।

पानी मिलै न आप को, औरन बकसत छीर।
आपन मन निहचल नहीं, और बँधावत धीर॥ १२॥

अपने को तो पानी भी नहीं मिलता और दूसरों को दूध देता है। अपना मन तो नौ हाथ ऊंचा उछाल मारता है और दूसरे को धैर्य धारण करने का उपदेश करता है॥ १२॥

चतुराई चूल्है पड़े, ज्ञान कथै हुलसाय।
भाव भक्ति जाने बिना, ज्ञानपनों चलि जाय॥ १३॥

आचरण-बिना जो उचक-उचक कर बहुत ज्ञान का भाषण करते रहते हैं, उनकी बुद्धिमानी चूल्हे भाड़ में जाय। भाव-भक्ति का आचरण हुए बिना ज्ञानपन नष्ट हो जाता है॥ १३॥ ८५१॥

३४
करनी को अंग

(ज्ञान को कर्तव्य में उतारना ही सर्वोपरि है, इसी विषय को इस प्रसंग में बताया गया है।)

कबीर करनी आपनी, कबहुँ न निष्फल जाय।
सात समुद्र आड़ा पड़े, मिले अगाऊ आय॥ १॥

हे मनुष्यो! अपना किया हुआ कर्म कभी निष्फल नहीं होता। सात-समुद्र की आड़ में होने पर भी समय पर आगे आकर मिलता है॥ १॥

कबीर करनी क्या करे, जो गुरु नहीं सहाय।
जिह जिह डारी पग धरे, सो सो निव निव जाय॥ २॥

मोक्षार्थ अपना पुरुषार्थ भी तब तक सफल नहीं होता है, जब तक बोधवान साधन-सम्पन्न सद्गुरु सहायक नहीं मिलते। ऐसी अवस्था में जिस-जिस शाखा पर साधक पैर रखता है, वही झुक-झुक जाती है (जो-जो साधन आरम्भ करता है, निष्फल हो जाता है)॥ २॥

करनी बिन कथनी कथै, गुरुपद लहै न सोय।
बातों के पकवान से, धीरा नाहीं कोय॥ ३॥

आचरण के बिना जो कथनी कथता है, वह वैसे ही श्रेष्ठ स्वरूपस्थिति नहीं पाता, जैसे बातों के पकवान से कोई तृप्त नहीं हो सकता॥ ३॥

करनी बिन कथनी कथै, अज्ञानी दिन रात।
कूकर सम भूकत फिरै, सुनी सुनाई बात॥ ४॥

· आचरण के बिना अज्ञानी रात-दिन कथनी करता है और सुनी-सुनायी बातों को श्वानवत रात-दिन भूंकता रहता है॥ ४॥

करनी का रजमा नहीं, कथनी मेरु समान।
कथता बकता मर गया, मूरख मूढ़ अजान॥ ५॥

आचरण तो रज मात्र नहीं है और वक्तव्य सुमेरु पर्वत के बराबर है। ऐसे कितने अज्ञानी-मूर्ख कथते-बकते मर गये (कल्याण न कर सके) ॥ ५ ॥

करनी गर्व निवारनी, मुक्ति स्वारथी सोय।
कथनी तजि करनी करे, तब मुक्ताहल होय॥ ६ ॥

मुक्तिरूपी स्वार्थ के लिए करनी करो, परन्तु उसका अहंकार त्याग करो। केवल कथनी करने का व्यसन त्यागकर जब आचरण से चलेगा, तभी मोक्ष होगा ॥ ६ ॥

जैसी मुख ते नीकसे, तैसी चालै नाहिं।
मनुष्य नहीं वे श्वान गति, बाँधे जमपुर जाहिं॥ ७ ॥

जैसे उत्तम ज्ञान की बातें मुख से निकलती हैं, उस प्रकार नहीं चलते, वे मनुष्य नहीं कुत्ते हैं। ऐसे लोग वासना में बंधकर चौरासी में जायेंगे ॥ ७ ॥

चोर चुराई तूमरी, गाड़ै पानी माँहि।
वह गाड़ै तो उछले, करनी छानी नाँहि॥ ८ ॥

एक चोर ने एक तुमड़ी चुराई और वह ले जाकर पानी में गाड़ने लगा। चोर तो उसे गाड़ता है और वह उछलती है, उसने आचरण खोज करके नहीं धारण किया ॥ ८ ॥

भाव—वाचकज्ञानी अपने भद्दे आचरणों को अपने सुन्दर वक्तव्य में छिपाना चाहता है, परन्तु वे दुराचरण उछलकर सबके सामने हुए बिना नहीं रहते।

जसी करनी जासु की, तैसी भुगतै सोय।
बिन सद्गुरु की भक्ति के, जन्म जन्म दुख होय॥ ९ ॥

जिसकी जैसी करनी रहती है वह वैसे फल भी भोगता है। सद्गुरु के भक्ति-बिना जन्म-जन्मान्तर दुख ही भोगता है ॥ ९ ॥

मारग चलते जो गिरै, ताको नाहीं दोष।
कहँ कबीर बैठा रहै, ता सिर करड़े कोस॥ १० ॥

पथ चलते हुए जो गिर पड़े उसको दोष नहीं, जो नितान्त बैठा ही रहता है, उसके सिर पर मार्ग के सब कठिन कोस बने रहते हैं ॥ १० ॥

श्रोता तो घरही नहीं, बक्ता बकै सो बाद।
श्रोता बक्ता एक घर, तब कथनी का स्वाद॥ ११ ॥

श्रोता यदि ध्यानपूर्वक नहीं सुनता, तो वक्ता का उपदेश करना व्यर्थ है। श्रोता-वक्ता की जब एक लक्ष्य में तदाकारता हो, तब वक्तव्य का रस मिलता है॥ ११॥

कथते बकते पचि मुये, मूरख कोटि हजार।
कथनी काची पड़ गयी, रहनि रहै सो सार॥ १२॥

हजारों-करोड़ों मूर्ख ज्ञान की बातें करते-बकते अज्ञान ही में पच मरे। केवल कथनी तो सारहीन हो जाती है, आचरण में चलना ही परम लाभ है॥ १२॥

रहनी के मैदान में, कथनी आवै जाय।
कथनी पीसै पीसना, रहनी अमल कमाय॥ १३॥

जब अपने में रहनी आ जाती है तब उसके मैदान में तो कथनी अपने आप आती-जाती रहती है (क्योंकि साधना अनुभव का स्रोत है)। कथनी करना पिसान पीसना है और रहनी रहना उसे पकाकर खाना है॥ १३॥

एक हमारी सीख सुन, जो तू हुआ सीष।
करूँ करूँ तो क्या कहे, किया है सो दीख॥ १४॥

यदि तू गुरु का शिष्य हुआ है, तो हमारी एक शिक्षा सुन! करूंगा-करूंगा, क्या करता है, जो पूर्व में भूलें कर आया है, उनका निरीक्षण कर (उनको अब न दोहरा, की हुई पूर्व वासनाओं का शमन कर)॥ १४॥

जब तू आया जगत में, लोग हँसे तू रोय।
ऐसी करनी न करो, पीछे हँसे सब कोय॥ १५॥

जब तू माता के गर्भ से पैदा हुआ था तब तू तो रोता था, और सब लोग प्रसन्नता में हंसते थे। अब ऐसी करनी न करना कि मरने के पीछे भी तुम्हारे आचरण पर लोग हंसें॥ १५॥

श्रम ही ते सब कुछ बने, बिन श्रम मिले न काहि।
सीधी अंगुली घी जमो, कबहूं निकसै नाहिं॥ १६॥

परिश्रम से ही सब कार्य बनता है, बिना परिश्रम से कुछ भी नहीं मिलता। जमा हुआ घी भी सीधी उंगली से कभी नहीं निकलता॥ १६॥

कैसे भी सामर्थ्य हो, बिन उद्यम दुख पाय।
निकट असन बिन कर चले, कैसे मुख में जाय॥ १७॥

कैसा भी बलशाली मनुष्य हो, बिना उद्योग किये दुख पाता है। पास में रखा हुआ भोजन बिना हाथ से उठाये मुख में कैसे जायेगा!॥ १७॥

दाता के घर सम्पत्ति, आठो पहर हजूर।
जैसे गारा राज को, भर भर देत मजूर॥ १८॥

दानी के घर में आठों पहर सम्पत्ति भरी रहती है। जैसे मजदूर राजगीर (थवई) को पात्रों में गारा (गिलावा) भर-भरकर देते रहते हैं॥

श्रम ही ते सब होत है, जो मन राखै धीर।
श्रम ते खोदत कूप ज्यों, थल में प्रगटै नीर॥ १९॥

यदि मन में धैर्य रखे तो परिश्रम के सहारे धीरे-धीरे होने योग्य बातें सब होती हैं। देखो! परिश्रम से कूप खोदने पर कठोर पृथ्वी में भी पानी निकल आता है॥ १९॥ ८७०॥

३५

लगनी को अंग

(इस प्रसंग में यह बताया गया है कि सत्य में दृढ़ लगन करना चाहिए।)

लौ लागी तब जानिये, छूटि न कबहूँ जाय।
जीवत लौ लागी रहै, मूये तहाँ समाय॥ १॥

दृढ़ प्रेम लगा तब समझो जब कभी छूट न जाय। जीवनपर्यन्त इष्ट (प्रेम-पात्र) में प्रेम लगा रहे और शरीर छोड़ते समय इष्ट के प्रेम में ही शरीर छोड़े, फिर अन्तत: उसी में स्थित हो जायेगा॥ १॥

लौ लागी तो डर किसा, आप विसरजन देह।
अमृत पीवै आतमा, गुरु सों जुड़ै सनेह॥ २॥

जब स्वरूप-भजन में प्रेम लग गया, तब डर किसका! (शरीर ही तक डर है और) शरीर स्वत: नाशवान है। जिज्ञासु जीव तो सद्गुरु से प्रेम जोड़कर स्वरूप स्थिति रूपी अमृत का पान करते हैं॥ २॥

लागी लागी क्या करे, लागी नाहीं एक।
लागी सोई जानिये, पड़े कलेजे छेक॥ ३॥

प्रेम लगा-प्रेम लगा क्या करता है, कुछ भी तो नहीं लगा। प्रेम लगा हुआ तब जानो जब हृदय को भेद जाय॥ ३॥ ८७३॥

भाव—सत्संग-भक्ति, सत्य की खोज, सत्य स्वरूप की स्थिति में ऐसा प्रेम होना चाहिए कि जब तक यह कार्य सिद्ध न हो, तब तक चैन से न रहे।

३६

कसौटी को अंग

(कसौटी में टिकता है, वही खरा उतरता है।)

खरी कसौटी तौलता, निकसि गई सब खोट।
सद्‌गुरु सैना सब हनी, शब्द बान की चोट॥ १॥

सत्य की कसौटी पर कसने से सारी असत्यता निकल जाती है। निर्णय शब्द रूपी बाण की चोट से जिज्ञासु की सारी भ्रम-सेना को सद्‌गुरु नष्ट कर देते हैं॥ १॥

हीरा पाया पारखी, घन महँ दीन्हा आन।
चोट सही फूटा नहीं, तब पाई पहिचान॥ २॥

पारखी-विवेकी स्वरूपज्ञान रूपी हीरा को पाये, उसको लाकर तर्क रूपी घन से कसे, तर्क की चोट सहकर भी वह नहीं कटा, तब परखने में आ गया कि वास्तविक ज्ञान हीरा है॥ २॥

सोने रूपे थाह दइ, उत्तम मेरी जात।
बन ही में की घुँघची, तोली हमरे साथ॥ ३॥

सच्चे सोने और चांदी को आग में डालने से उसने बता दिया कि मेरी जात उत्तम है। परन्तु (सोना कहता है) वन में की घुंघची लाकर उसके साथ मेरी तुलना की, यही ठीक नहीं किया॥ ३॥

तौल बराबर घूँघची, मोल बराबर नाहिं।
मेरा तेरा पटतरा, दीजै आगी माहिं॥ ४॥

(सोना कहता है) ऐ घुंघची! तौल में तू बराबर हो सकती है, परन्तु मूल्य में तू मेरा पटतर नहीं कर सकती। मेरी-तेरी बराबरी का पोल तब खुलेगा, जब दोनों को आग में डालकर तपाया जायेगा॥ ४॥

भाव—सच्चे मनुष्य तथा कच्चे मनुष्य, सच्चे साधु और कच्चे साधु, वेष में

भले बराबर हो जायं, परन्तु वास्तविकना में दोनों में बड़ा अन्तर रहेगा। सच्चे ही कसौटी में ठहरेंगे, कच्चे नहीं।

काँच कथीर अधीर नर, तिन्हें न उपजै प्रेम।
कहँ कबीर कसनी सहै, कै हीरा कै हेम॥५॥

कांच-कंकड़ के समान हृदय के कठोर एवं नीरस तथा धैर्यहीन मनुष्य के हृदय में कल्याण के लिए प्रेम नहीं उत्पन्न होता। गुरु कबीर कहते हैं कि कसनी तो हीरा सहता है या सोना॥५॥ ८७८॥

भाव—सच्चे लोग ही सत्य की कसौटी में ठहर सकते हैं।

३७

पण्डित को अंग

(आचरण-विवेक-रहित केवल वाणी मात्र के पण्डित की चर्चा इस प्रसंग में हुई है।)

पण्डित और मसालची, दोनों सूझत नाहिं।
और को करें चाँदना, आप अँधेरे माहिं॥ १॥

पण्डित और मसाल दिखाने वालों को स्वयं नहीं दिखता। ये दूसरे के लिए तो प्रकाश दिखाते हैं और स्वयं अन्धकार में भटकते रहते हैं॥ १॥

पण्डित केरी पोथिया, ज्यों तीतर का ज्ञान।
औरन सगुन बतावहीं, आपन फंद न जान॥ २॥

पण्डित का पोथी बांचना एवं उपदेश करना क्या है, जैसे तीतर का ज्ञान। तीतर दूसरे को तो सगुन बताता है और अपना बन्धन नहीं जानता। वैसे पण्डित दूसरे को ज्ञान बताते हैं और स्वयं अज्ञान में भटकते हैं॥ २॥

पण्डित छोड़ो पातरा, काजी छाँड़ कुरान।
वह तारीख बताय दे, थे न जिमी असमान॥ ३॥

हे पण्डित-काजी! वह तिथि बताओ कि कब पृथ्वी-आकाश नहीं थे (यदि नहीं बता सकते) तो वेद-कुरान को पानी में डाल दो॥ ३॥

भाव—जगत अनादि है। पण्डित-काजी का जगत-उत्पत्ति मानना भ्रम है।

पढ़ै गुनै सीखै सुनै, मिटी न संसै सूल।
कहैं कबीर कासों कहूँ, ये ही दुख का मूल॥ ४॥

शास्त्रों का अध्ययन-मनन किया और सीखा-सुना; परन्तु संदेह रूपी शूल नहीं गया। गुरु कबीर कहते हैं, किससे कहा जाय, यही दुखों की जड़ है॥ ४॥

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पण्डित हुआ न कोय।
एकै अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय॥ ५॥

जगत के बहुत लोग पोथी पढ़-पढ़ कर मर गये, परन्तु कोई पण्डित न हुआ। 'प्रेम' बस यही एक शब्द जो पढ़ लेता है, वह पण्डित हो जाता है। ५॥

भाव—विश्व के समस्त जीवों के प्रति जिसका मित्रभाव है वही पण्डित है।

कबीर पढ़ना दूर करु, अति पढ़ना संसार।
पीर न उपजै जीव की, क्यों पावै निरधार ॥ ६॥

हे मुमुक्षु! बहुत पढ़ना-लिखना त्याग दे, संसारियों को बहुत पढ़ने दे। जब तक मनुष्य के हृदय में दया-प्रेम नहीं उत्पन्न होता, तब तक निरालम्ब पद कैसे पायेगा!॥ ६॥

नहिं कागद नहिं लेखनी, निःअक्षर है सोय
बाँचहि पुस्तक छोड़ि के, पण्डित कहिये सोय॥ ७॥

कागज-लेखनी में अपना स्वरूप आने वाला नहीं है, वह तो अक्षरमात्र के जाल से रहित है। पुस्तक त्यागकर जो उस (स्वस्वरूप) का अध्ययन करता है, उसे पण्डित कहना चाहिए॥ ७॥

धरती अम्बर न हता, को पण्डित था पास।
कौन महूरत थापिया, चाँद सूर्य आकाश॥ ८॥

जब पृथ्वी-आकाश नहीं थे, तब इनको बनाने वाले के पास कौन-सा पण्डित था (जिसने बनाते देखकर जगत-उत्पत्ति की बात लिखी) बताओ। किस मुहूर्त में, किसने चन्द्रमा, सूर्य, आकाश का स्थापन किया!॥ ८॥

भाव—जगत की उत्पत्ति मानने वाले पण्डितों से यह तर्क है। वास्तव में जगत को किसी ने बनाया नहीं। यह सदैव स्वतः एवं अनादि-अनन्त है।

कबीर ब्राह्मण की कथा, सो चोरन को नाव।
सब अन्धे मिलि बैठिया, भावै तहाँ लै जाव॥ ९॥

भोले ब्राह्मणों की कथा चोरों की नाव के समान है। सब विवेकहीन लोग उस पर बैठे हैं, जहां मन चाहे वे ले जायं॥ ९॥

कबीर ब्राह्मण बूड़िया, जनेऊ केरे जोर।
लख चौरासी माँग लइ, सतगुरु सेती तोर॥ १०॥

केवल जनेऊ के बल पर अपने को ब्राह्मण मानकर (सदाचरण-बिना) ब्राह्मण

लोग अज्ञान में डूब गये। विवेक-वैराग्य सम्पन्न सन्त-गुरु से नाता तोड़कर चौरासी लाख योनि में भटकने का कर्म कर लिये॥ १०॥

ब्राह्मण गुरु है जगत का, सन्तन के गुरु नाहिं।
अरुझि परुझि के मरि गये, चारों वेदों माहिं॥ ११॥

ब्राह्मण जगत का गुरु हो-तो-हो, सन्तों का गुरु वह नहीं हो सकता। वे तो चारों वेदों के अर्थवाद में ही उलझ-पुलझ कर अज्ञानी बन गये॥ ११॥

कलि का ब्राह्मण मस्खरा, ताहिं न दीजै दान।
कुटुम्ब सहित नरकै चलै, साथ लिये यजमान॥ १२॥

हिंसादि पाप-कर्म करने वाले तथा सन्त-सत्संग की हंसी उड़ाने वाले ब्राह्मणों को दान न दो, वे तो अपने कुटुम्ब और यजमान को लेकर नरक में जायेंगे॥ १२॥

पढ़ै पढ़ावै कुछ नहीं, ब्राह्मण भक्ति न जान।
ब्याहै श्राद्धै कारने, बैठे सूड़ा तान॥ १३॥

ब्राह्मण लोग न पढ़ते हैं न पढ़ाते हैं, और भक्ति-नम्रता की तो बात ही नहीं जानते। केवल यजमानों के ब्याह-श्राद्ध में लोभवश मुख फैलाकर बैठते हैं॥ १३॥

चार अठारह नौ पढ़ी, छौ पढ़ि खोया मूल।
कबीर मूल जाने बिना, ज्यों पंछी चण्डूल॥ १४॥

चार वेद, अठारह पुराण, नौ व्याकरण और छह शास्त्र पढ़कर मूल (स्वरूप-ज्ञान-सदाचरणों) को खो दिया। परन्तु स्वरूपज्ञान बिना तो मनुष्य चण्डूल पक्षी के समान हो जाता है॥ १४॥

पढ़ी गुनी पाठक भये, समझाया संसार।
अपना तो समझै नहीं, वृथा गया अवतार॥ १५॥

अध्ययन-मनन करके अध्यापक हो गये और संसार को उपदेश करने लगे। परन्तु यदि अपने आप की वास्तविकता नहीं समझते, तो जीवन व्यर्थ गया समझो॥ १५॥

पढ़ी गुनी ब्राह्मण भये, कीर्ति भई संसार।
वस्तू की तो समुझ नहिं, ज्यों खर चन्दन भार॥ १६॥

पढ़-गुन कर यदि पण्डित हो गये और संसार में कीर्ति भी फैल गयी, परन्तु

सत्य स्वस्वरूप वस्तु को नहीं समझते, तो उनका विद्याध्ययन गधे के ऊपर चन्दन लादने के समान ही हुआ॥ १६॥

पढ़त गुनत रोगी भया, बढ़ा बहुत अभिमान।
भीतर ताप जु जगत का, घड़ी न पड़ती सान॥ १७॥

पढ़ते-गुनते मनोविकार का रोगी बन गया और बहुत अभिमान बढ़ गया। हृदय के भीतर तो जगत-कामना का ताप तपता है, एक घड़ी भी शान्ति नहीं पाते॥ १७॥

पढ़ते गुनते जनम गया, आशा लागी हेत।
बोया बीजहि कुमति ने, गया जु निर्मल खेत॥ १८॥

सांसारिक विषयों की आशा एवं आसक्ति लगी रहने से शास्त्रों के पढ़ते-गुनते हुए भी जनम व्यर्थ ही में बीत गया। उनकी कुबुद्धि ने ऐसी बुराई के बीज बोये, जिससे निर्मल खेत रूप नरतन भी व्यर्थ नष्ट हो गया॥ १८॥

चतुराई पोपट पढ़ी, पड़ि सो पिंजर माहिं।
फिर परमोधे और को, आपन समझे नाहिं॥ १९॥

ऐसी चतुराई व्यर्थ है, पिंजरे में बन्द हुआ सुग्गा भी स्वयं पढ़कर दूसरे को उपदेश करने की चतुराई सीख लेता है। परन्तु वह स्वयं नहीं समझता कि जो मैं कहता हूं उसका तात्पर्य क्या है॥ १९॥

भाव—स्वरूपज्ञान और आचरण ही सार है।

हरिगुन गावै हरषि के, हिरदय कपट न जाय।
आपन तो समझै नहीं, औरहिं ज्ञान सुनाय॥ २०॥

हरि-गुण तो नाच-नाच कर गाते हैं, परन्तु मन की कपट-कतरनी नहीं जाती। अपने आप समझकर अपना दोष नहीं निकालते और दूसरे के सामने ज्ञान की झड़ी लगाते हैं॥ २०॥

ज्ञानी ज्ञाता बहु मिले, पण्डित कवी अनेक।
राम रता इन्द्रिय जिता, कोटी मध्ये एक॥ २१॥

ज्ञानी, ज्ञाता, पण्डित, कवि बहुत एवं अनेकों मिले, परन्तु स्वरूप-राम में लीन एवं इन्द्रियजित करोड़ों के बीच में कोई एक मिलता है॥ २१॥

कुल मारग छोड़ा नहीं, रह माया में मोह।
पारस तो परसा नहीं, रहा लोह का लोह॥ २२॥

जो कुल-जाति का अहंकार नहीं छोड़ा और माया में आसक्त है, वह पारस से स्पर्शित नहीं हुआ, इसलिए लोह-का-लोह बना रहा (यथार्थ सद्गुरु-ज्ञान न मिला और अज्ञानी-का-अज्ञानी ही बना रहा)॥ २२॥

आत्म तत्त्व जाना नहीं, कोटिक कथे जु ज्ञान।
तारे तिमिर न भागहीं, जब लग उगै न भान॥ २३॥

करोड़ों ज्ञान कथन किया, परन्तु स्वस्वरूप की वास्तविकता को नहीं जाना। जब तक सूर्योदय नहीं होता, तब तक तारागण से अंधकार दूर नहीं होता॥ २३॥ ९०१॥

इस प्रसंग को पढ़कर किसी पण्डित या ब्राह्मण भाई को कष्ट नहीं मानना चाहिए। क्योंकि केवल पण्डित या ब्राह्मण ही की आलोचना नहीं की गयी है। बल्कि इसके पहले ही सन्त, गुरु जैसे सर्वमान्य तत्त्व पर भी अधिक आलोचना की जा चुकी है। बिना गहराई से आपरेशन हुए विकार नहीं जाता। श्री कबीर साहेब की वाणियां दो टूक हैं। सुनने में कहीं-कहीं करकस, परन्तु समझने में मीठी एवं लाभकर हैं। सभी सज्जनों को गुण ग्रहण करना चाहिए।

३८

निंदा को अंग

(पर-निन्दा सबसे बुरी है, इसका सर्वथा त्याग करो।)

निन्दक एकहु मति मिलै, पापी मिलै हजार।
इक निन्दक के शीश पर, लाख पाप का भार॥ १॥

अन्य प्रकार के चाहे हजारों पापी मिलें, परन्तु एक भी पर-निन्दक से भेंट न हो, क्योंकि एक पर-निन्दक के शीश पर लाखों पाप के बोझ रहते हैं॥ १॥

निन्दक से कुत्ता भला, हट कर माँड़ै रार।
कुत्ते से क्रोधी बुरा, गुरू दिलावै गार॥ २॥

निन्दक से कुत्ता अच्छा है जो दूर हटकर भूंकता है। कुत्ते से भी क्रोधी-निन्दक बुरा है, क्योंकि वह गुरु को भी गाली दिलवाता है॥ २॥

निन्दक तो है नाक बिन, सोहै नकटों माहिं।
साधू जन गुरु भक्त जो, तिनमें सोहै नाहिं॥ ३॥

पराये की निन्दा करने वाला नाक के बिना है, अतः वह नक्कटों में ही शोभा पाता है। सन्त-भक्त के बीच वह नहीं शोभता॥ ३॥

निन्दक तो है नाक बिन, निसदिन विष्ठा खाय।
गुन छाँड़ै अवगुन गहै, तिसका यही सुभाय॥ ४॥

निन्दक नाक-रहित है, वह रात-दिन पराये के दोष रूपी विष्ठा को खाता है। वह लोगों के सद्गुणों को त्यागकर केवल दुर्गुणों को ही ग्रहण करता है, उसका यही स्वभाव होता है॥ ४॥

निन्दक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी सायुन बिना, निरमल करे सुभाय॥ ५॥

अपने निन्दक को अपने आंगन में मकान बनवाकर सदैव पास में रखो,

क्योंकि वह बिना साबुन-पानी के ही (निन्दा कर-करके) आपका स्वभाव सुधारता रहेगा (सावधान करता रहेगा) ॥ ५ ॥

भाव—यों निन्दकों की संगत बुरी होती है, परन्तु जो आपकी निन्दा करता है, उससे आपकी भलाई है।

निन्दक दूर न कीजिये, कीजै आदर मान।
निरमल तन मन सब करै, बके आन ही आन ॥ ६ ॥

अपने निन्दक को दूर न करो, बल्कि उसका आदर-सत्कार करो। वह आपके आचरणों के विषय में और-का-और ही बक-बक कर आपके तन, मन, वचन को शुद्ध करेगा ॥ ६ ॥

निन्दक मेरा जनि मरो, जीवो आदि जुगादि।
कबीर सतगुरु पाइये, निन्दक के परसादि ॥ ७ ॥

ऐ मेरे निन्दक! तुम मत मरो, बल्कि युग-युग जीयो। ऐ मनुष्यो! निन्दक की कृपा से ही यथार्थ सद्गुरु को प्राप्त करोगे ॥ ७ ॥

कबीर निन्दक मरि गया, अब क्या कहिये जाय।
ऐसा कोई ना मिला, बीड़ा लेय उठाय ॥ ८ ॥

मेरा निन्दक मर गया, क्या कहा जाय, ऐसा कोई नहीं मिलता, कि वह फिर से मेरी निन्दा करने का बीड़ा उठा ले ॥ ८ ॥

सातों सागर मैं फिरा, जम्बू दीप दै पीठ।
पर निन्दा नाहीं करै, सो कोई बिरला दीठ ॥ ९ ॥

जम्बू द्वीप के आगे सातों समुद्रों से घिरी हुई सारी पृथ्वी में मैं घूमा, परन्तु पराये की निन्दा जो नहीं करता हो ऐसा कोई बिरला ही दिखाई पड़ा ॥ ९ ॥

दोष पराया देखि के, चले हसन्त हसन्त।
अपने चित्त न आवई, जिनको आदि न अन्त ॥ १० ॥

पराये के दोषों को देखकर निन्दक लोग हंसते-हंसते चलते हैं, वे अपने अन्तःकरण के दोषों को नहीं देखते जिनका वारापार नहीं है ॥ १० ॥

तिनका कबहुँ न निन्दिये, पाँव तले जो होय।
कबहूँ उड़ि आँखों परै, पीर घनेरी होय ॥ ११ ॥

पैर के नीचे पड़े हुए तृण की भी निन्दा मत करो। वही कभी उड़कर आंखों में पड़ जायेगा तो बहुत पीड़ा होगी॥ ११॥

माखी गहै कुवास को, फूल वास नहि लेयँ।
मधुमाखी हैं साधु जन, पुष्प बास चित देयँ॥ १२॥

पर-निन्दक रूपी मक्खियां दूसरे के दोष रूपी दुर्गंधी को ही लेती हैं, सद्गुण रूपी फूल की सुगंधी नहीं लेतीं। परन्तु सन्तजन मधुकरवत गुणग्राही होते हैं, वे दूसरे के सद्गुण रूपी पुष्प-वास पर ही ध्यान देते हैं॥ १२॥

जो कोइ निन्दै साधु को, संकट आवै सोय।
नरक जाय जन्मैं मरै, मुक्ति कबहुँ नहिं होय॥ १३॥

जो कोई सन्तों की निन्दा करता है, उसके ऊपर अवश्य संकट आता है। वह नीची योनि रूपी नरक में पड़ता है और बारम्बार जन्मता-मरता है, यह आचरण रखकर उसकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती॥ १३॥

जो तू सेवक गुरुन का, निन्दा की तज बान।
निन्दक नेरे आय जब, कर आदर सनमान॥ १४॥

यदि तू साधु-गुरुजनों का सेवक है, तो पराये की निन्दा करने का स्वभाव छोड़ दे। तुम्हारी निन्दा करने वाला जब तुम्हारे निकट आवे तब उसका आदर-सम्मान कर॥ १४॥

काहू को नहिं निन्दिये, चाहे जैसा होय।
फिर फिर ताको बन्दिये, साधु लच्छ है सोय॥ १५॥

चाहे जैसा कोई हो, किसी की निन्दा न करो। बल्कि पुनः-पुनः उसके गुणों की ही बात करो, यही साधु (उत्तम) लक्षण है॥ १५॥

आपन को न सराहिये, पर निन्दिये न कोय।
चढ़ना लम्बा धौंहरा, ना जाने क्या होय॥ १६॥

अपनी बड़ाई और दूसरे की निन्दा न करो, क्योंकि अभी तुम्हें आचरण के बड़े ऊंचे स्तम्भ पर चढ़ना है, न जाने भविष्य में क्या हो!॥ १६॥

आपन पौ न सराहिये, और न कहिये रंक।
क्या जानो केहि रूखतर, कूरा होय करंक॥ १७॥

अपनी बड़ाई करके दूसरे को दीन-दरिद्र मत गिनो। कौन जाने किस समय रूपी वृक्ष के नीचे कूरा करंक हो जाय, अर्थात मूर्ख मनुष्य सिरमुकुट हो जाय॥ १७॥

अड़सठ तीरथ निन्दक न्हाई, देह पलोसे मैल न जाई।
छप्पन कोटि धरती फिरि आवै, तो भी निन्दक नरकहिं जावै॥ १८॥

अड़सठ तीर्थों में शरीर को मल-मल कर निन्दक स्नान करे तो भी उसके मन का मैल नहीं जा सकता। पृथ्वी की चाहे छप्पन करोड़ बार परिक्रमा कर आवे तो भी पराये की निन्दा करने वाला नरक ही में जायेगा॥ १८॥

कंचन को तजबो सहल, सहल त्रिया को नेह।
निन्दा केरो त्यागवो, बड़ा कठिन है येह॥ १९॥

अधिक सम्पत्ति एवं स्त्री का मोह त्यागकर साधु-वेप धारण कर लेना सहज है, परन्तु पराये की निन्दा का त्याग करना बड़ा कठिन है (विरला पुरुप ही इसे त्यागता है)॥ १९॥ ९२०॥

३९

आनदेव को अंग

(सर्वोपरि देव गुरुदेव तथा सन्त हैं, जड़ देवी-देव नहीं।)

आन देव की आश करि, मुख मेले मद माँस।
जाके जन भोजन करै, निश्चय नरक निवास॥ १॥

जो अन्य कल्पित जड़ देवताओं की आशा करके या उसे चढ़ाकर मुख से मदिरा-मांस गटकते हैं (उनके नरक जाने की बात कौन करे) उनके यहां जो भोजन करते हैं, वे भी निश्चयपूर्वक नरक में वास करते हैं॥ १॥

होम कनागत कारने, साकुट राँधा खाय।
जीवत विष्ठा स्वान की, मूआ नरके जाय॥ २॥

हवन-श्राद्ध में खाने के लोभ से जो लोग साकट (भक्तिहीन) लोगों का पकाया खाते हैं, वे जीते जी श्वान के विष्ठा खानेवत आचरण वाले हैं और मरने पर नीची योनियों में जायेंगे॥ २॥

कन्या बर अरु कारने, आनदेव को खाय।
सो नर ढोले बाजते, निश्चय नरके जाय॥ ३॥

वर-कन्या विवाह या अन्य किसी कारण से जो प्राणियों को किसी देव को बलि (अर्पण) करके खाता है। वह मनुष्य ढोल बजाकर नरक में जाता है॥ ३॥

कामी तरै क्रोधी तरै, लोभी की गति होय।
सलिल भक्त संसार में, तरत न देखा कोय॥ ४॥

कामी, क्रोधी, लोभी—सब अपने दोषों से छूट सकते हैं, परन्तु मदिरा पीने के प्रेमीजनों का उद्धार होते नहीं देखा॥ ४॥

सौ बरसहिं गुरु भक्ति करु, एक दिन पूजै आन।
सो अपराधी आतमा, परै चौरासी खान॥ ५॥

जिसने सौ वर्ष सद्गुरु की भक्ति करके एक दिन भी दूसरे कल्पित देवी-देवता की पूजा की, वह अपराधी जीव चौरासी-गड्ढे में पड़ेगा॥ ५॥ ९२५॥

४०

काम को अंग

(कामासक्ति महान दुखप्रद है, इसका त्याग करना चाहिए।)

कामी कुत्ता तीस दिन, अन्तर होय उदास।
कामी नर कुत्ता सदा, छह रितु बारह मास॥ १॥

कुत्ता बारह महीने में केवल एक ही महीना कामी बनता है, फिर वह विषय-वासना से उदास हो जाता है, परन्तु कामी मनुष्य छह ऋतु-बारह महीने सदैव कुत्ता बना रहता है॥ १॥

कामी क्रोधी लालची, इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करे कोइ सूरमा, जाति बरन कुल खोय॥ २॥

कामी, क्रोधी, लालची—इनसे भक्ति नहीं होती, जाति-वर्ण और कुल का अभिमान मिटाकर भक्ति तो कोई शूरवीर ही करता है॥ २॥

कामी लज्जा न करै, मन माही अहलाद।
नींद न माँगै साथरा, भूख न माँगै स्वाद॥ ३॥

कामी मनुष्य लज्जा नहीं करता, उसे कुकर्म में ही प्रसन्नता रहती है। जैसे अधिक निद्रा में बिछौना तथा भूख में स्वादीले पदार्थ हों चाहे न हों, सोने और खाने का ही मन करता है॥ ३॥

कामी तो निरभय भया, करै न काहू संक।
इन्द्री केरे बसि पड़ा, भुगते नरक निसंक॥ ४॥

कामी तो निर्भय हो जाता है, वह किसी का डर नहीं मानता। वह इन्द्रियों के वश में पड़कर लोक-परलोक में नरक ही भुगतता है॥ ४॥

कामी अमी न भावई, विष को लेवै शोध।
कुबुद्धि न भाजै जीव की, भावै ज्यों परमोध॥ ५॥

कामी मनुष्य को ब्रह्मचर्य रूपी अमृत नहीं अच्छा लगता, वह विषय रूपी

जहर को ही खोज लेता है। कुचाली मनुष्य की कुबुद्धि नहीं दूर होती चाहे जितना ज्ञानोपदेश करो ॥ ५ ॥

दीपक सुन्दर देखि के, जरि जरि मरत पतंग।
बढ़ी लहर जो विषय की, जरत न मोरत अंग ॥ ६ ॥

पतंगी दीपक की सुन्दर लौ देखकर उसमें जल-जल कर मरती हैं। इसी प्रकार विषय-वासना बढ़ जाने पर मनुष्य कष्ट पाते हुए उसे नहीं त्यागता ॥ ६ ॥

भक्ति बिगाड़ी कामिया, इन्द्रिन केरे स्वाद।
हीरा खोया हाथ सों, जनम गँवाया बाद ॥ ७ ॥

इन्द्रियों के स्वाद में पड़कर कामी लोगों ने भक्ति को विनष्ट कर दिया। हाथ से ज्ञान-हीरा खोकर जीवन को व्यर्थ में समाप्त कर दिया ॥ ७ ॥

काम काम सब कोइ कहै, काम न चीन्हैं कोय।
जेती मन की कल्पना, काम कहावै सोय ॥ ८ ॥

काम-काम सब कहते हैं, परन्तु ये लोग कोई भी काम का रूप नहीं पहचानते। विषय-सम्बन्धी मन की जितनी कल्पनाएं हैं, सब काम के रूप हैं ॥ ८ ॥

काम क्रोध मद लोभ की, जब लग घट में खान।
कबीर मूरख पण्डिता, दोनों एक समान ॥ ९ ॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, अभिमान आदि दुर्गुणों का जब तक हृदय में निवास है, तब तक पण्डित-मूर्ख दोनों एक समान हैं ॥ ९ ॥

कहता हूँ कहि जात हूँ, मानै नहीं गँवार।
बैरागी गिरही कहा, कामी वार न पार ॥ १० ॥

कहता हूं और कहता जाता हूं, परन्तु भोले लोग मानते नहीं, साधु-वेष में हो या गृहस्थी में हो, कामियों का उद्धार नहीं है ॥ १० ॥

बुन्द खिरी नर नारि की, जैसी आतमघात।
अज्ञानी मानै नहीं, येहि बात उत्पात ॥ ११ ॥

नर-नारी रज-वीर्य के स्खलित होने के उपरान्त आत्म-हत्यारे के समान पश्चाताप में डूब जाते हैं। परन्तु अज्ञानी पहले ही सुधार नहीं करते, यही उपद्रव की बात है ॥ ११ ॥

भग भोगे भग उपजै, भगते बचे न कोय।
कहैं कबीर भगते बचे, भक्त कहावै सोय॥ १२॥

विषयों को भोगने पर पुनः विषय-द्वारा जन्म धारण करना पड़ता है, ऐसे लोग जन्म-मरण से नहीं बचते। जो विषय-वासना से बचता है, वही उच्च कोटि का भक्त कहलाता है (अन्य लोग साधारण कोटि के भक्त हैं)॥ १२॥

तन मन लज्जा न करै, काम बान उर साल।
एक काम सब बस किये, सुर नर मुनि बेहाल॥ १३॥

जिसके हृदय में काम का बाण पीड़ा करता है वह अपने तन-मन की लज्जा त्यागकर कामातुर बन जाता है। एक काम ने ही सबको अपने वश में कर लिया है और उसी में सुर-नर-मुनि भी विकल हैं॥ १३॥ ९३८॥

शिक्षा—कामासक्ति अनन्त दुखों एवं पापों की जड़ है। इसका त्याग करना कल्याणार्थी का परम कर्तव्य है।

४१

क्रोध को अंग

(क्रोध महापाप है, इसका त्याग करना आवश्यक है।)

क्रोध अग्नि घर घर बढ़ी, जलै सकल संसार।
दीन लीन निज भक्ति जो, तिनके निकट उबार॥ १॥

घट-घट में क्रोध की अग्नि बढ़ी हुई है, सारा संसार इसमें जल रहा है। जो विनम्र और अपनी भक्ति में लीन है, उसकी संगत में ही उद्धार है॥ १॥

कोटि करम लागे रहैं, एक क्रोध की लार।
किया कराया सब गया, जब आया हंकार॥ २॥

एक क्रोध के सम्बन्ध में करोड़ों पाप कर्म लगे रहते हैं। जैसे मन में अहंकार आया, जानो किया-कराया सारा धर्म-कर्म नष्ट हुआ॥ २॥

जगत माहि धोखा घना, अहं क्रोध अरु काल।
पौरिहि पहुँचा मारिये, ऐसा जम का जाल॥ ३॥

[illegible] तथा कल्पना से संसार में लोग बहुत धोखा खाते हैं। अतः ऐसे [illegible], तो द्वार पर पहुंचते ही मार डालो (बुरा स्मरण ही नष्ट कर दो)॥ ३॥

दसों दिसा से क्रोध की, उठी अपरबल आग।
शीतल संगत साधु की, तहाँ उबरिये भाग॥ ४॥

दसों दिशाओं से क्रोध की भयंकर आग उठी है। सन्तों की संगत शीतल होती है, भागकर वहीं जाओ, वहीं उद्धार पाओगे॥ ४॥

यह ऊग कोठी काठ की, चहुँ दिसि लागी आग।
भीतर रहै सो जलि मुये, साधू उबरे भाग॥ ५॥

यह संसार काष्ठ का मकान है, चारों ओर से इसमें क्रोध की आग लगी है। जो इसके भीतर रहेगा, वह जल मरेगा, साधु जन भागकर बच गये ॥ ५ ॥

गार अंगार क्रोध झल, निन्दा धूवाँ होय।
इन तीनों को परिहरै, साधु कहावै सोय ॥ ६ ॥

गाली-गलीज अंगार है, क्रोध आंच है, परनिन्दा धुआं है—इन तीनों को जो सर्वथा त्याग दे, वही साधु कहलाने योग्य है ॥ ६ ॥ ९४४ ॥

४२

लोभ को अंग

(पाप का बाप लोभ है, इसे त्यागो।)

जब मन लागा लोभ सो, गया विषय में भोय
कहैं कबीर बिचारि के, केहि प्रकार धन होय।।१॥

कबीर साहेब विचारपूर्वक कहते हैं कि जब मनुष्य का मन धन के लोभ में लग गया, तब वह विषयों में अपने आपको भूल जाता है। वह रात-दिन यही सोचता है कि किस प्रकार धन का संग्रह हो ॥ १ ॥

जोगी जंगम सेवड़ा, ज्ञानी गुनी अपार।
षट दरशन से क्या बने, एक लोभ की लार॥२॥

योगी, जंगम, जैनी, ज्ञानी, अपार गुणी तथा षट दर्शन के सभी लोग—एक लोभ की संगत में पड़ जाने से—किसी से भी क्या कल्याण-साधना बनेगी!॥ २ ॥

कबीर औंधी खोपड़ी, कबहूँ धापै नाहिं।
तीन लोक की सम्पदा, कब आवै घर माहिं॥ ३॥

मनुष्य की यह उलटी खोपड़ी धन से कभी तृप्त नहीं होती। लोभी हर समय यही सोचता है कि तीनों लोकों की संपत्ति कब मेरे घर में आयेगी!॥ ३॥

कबीर दिल साबित भया, फल पाया समरथ्थ।
सायर माँहि ढिंढोरताँ, हीरा पड़ि गया हथ्थ॥४॥

कबीर साहेब कहते हैं कि जब हृदय में संतोष आया तब महान फल मिल गया। ज्ञान-सागर में मथन करते-करते हाथ में स्वरूपज्ञान का हीरा लग गया॥४॥

बहुत जतन करि कीजिये, सब फल जाय नशाय।
कबीर संचै सूम धन, अन्त चोर लै जाय॥५॥

बहुत उद्योग से संचित किये हुए धन का सब फल अन्ततः नष्ट ही होता है। सूम तो जीवन पर्यन्त धन जोड़ता है और अन्त में चोर मूस ले जाते हैं॥५॥९४९॥

४३

मोह को अंग

(मोह ही जगत का बीज है, इसका त्याग करना सर्वोपरि कर्तव्य है)

मोह फन्द सब फन्दिया, कोय न सकै निवार।
कोइ साधू जन पारखी, विरला तत्त्व विचार॥ १॥

मोह-फांसी में सब फंसे हैं, अन्य कोई इसे काट नहीं पाता। कोई विरले तत्त्वदर्शी पारखी सन्त ही इससे छूटते हैं॥ १॥

जब घट मोह समाइया, सबै भया अँधियार।
निर्मोह ज्ञान विचारि के, साधू उतरे पार॥ २॥

मोह जब हृदय में समाता है, तब सब प्रकार से अंधियारी हो जाती है। मोह-रहित ज्ञान-विचार में रत होकर सन्तजन ही भवाब्धि से पार होते हैं॥ २॥

जहँ लगि सब संसार है, मिरग सबन को मोह।
सुर नर नाग पताल अरु, ऋषि मुनिवर सब जोह॥ ३॥

सुर, नर, पाताल के नाग एवं ऋषि-मुनि जहां तक संसार में देखा जाता है, मोह-पशु ने सबको मोह लिया है॥ ३॥

सुर नर ऋषि मुनि सब फँसे, मृग त्रिस्ना जग मोह।
मोह रूप संसार है, गिरे मोह निधि जोह॥ ४॥

सुर-नर-ऋषि-मुनि—सब जगत के मोह रूपी मृगतृष्णा में फंसे हैं, यह संसार ही मोह रूप है, सब जीव मोह-समुद्र में गिरे हुए देखे जाते हैं॥ ४॥

अष्ट सिद्धि नौ निद्धि लौं, सबहिं मोह की खान।
त्याग मोह की वासना, कहैं कबीर सुजान॥ ५॥

गुरु-कबीर कहते हैं—ऐ बुद्धिमान! अष्ट-सिद्धि नौ-निधि सब मोह के गड्ढे हैं। मोह-वासना का त्याग करो॥ ५॥

अपना तो कोई नहीं, हम काहू के नाहिं।
पार पहूँची नाव जब, मिलि सब बिछुड़े जाहिं॥ ६॥

हमारा कोई नहीं है, हम भी किसी के नहीं हैं। जैसे नावका जब नदी के पार पहुंची, तब मिले हुए सब बिछुड़ जाते हैं॥ ६॥

अपना तो कोई नहीं, देखा ठोकि बजाय।
अपना अपना क्या करे, मोह भरम लपटाय॥ ७॥

ठोक-बजाकर देख लिया, अपना कोई नहीं है! ऐ मनुष्य! भ्रमपूर्ण मोह में लिपटकर अपना-अपना क्या करता है!॥ ७॥

मोह नदी बिकराल है, कोई न उतरे पार।
सतगुरु केवट साथ ले, हंस होय उस न्यार॥ ८॥

मोह की नदी भयंकर है, अन्य कोई इससे पार नहीं जाता। सद्गुरु रूपी केवट का साथ लेकर सुज्ञ मनुष्य ही मोह से पार पाता है॥ ८॥

एक मोह के कारने, भरत धरी दुइ देह।
ते नर कैसे छूटि हैं, जिनके बहुत सनेह॥ ९॥

एक मृग-शावक में मोह हो जाने से भरतजी को (मोह-वश) दो शरीर धरने पड़े। फिर वे मनुष्य भव-बन्धनों से कैसे छूटेंगे जिनके हृदय में बहुतों का मोह समाया हुआ है॥ ९॥ ९५८॥

कहहिं कबीर ते ऊबरे, जाहि न मोह समाय। (बीजक, चाचर १)

४४

मद को अंग

(अंहकार दुखों की खानि है, अतः इसे त्यागो।)

अहं अगिन हिरदै जरै, गुरु सों चाहै मान।
तिनको जम न्योता दिया, हो हमरे मेहमान॥ १॥

हृदय में अहंकार की अग्नि जल रही है, गुरु से भी सम्मान चाहता है। ऐसे लोगों को कुवासना ने निमन्त्रण दिया है कि आओ, मेरे पाहुन बनो (तुम गुरु-भक्त होने योग्य नहीं हो)॥ १॥

जहाँ आपा तहँ आपदा, जहँ संसै तहँ सोग।
कहँ कबीर कैसे मिटै, चारों दीरघ रोग॥ २॥

जहां अहंकार है, वहीं नाना विपत्तियां हैं; जहां अज्ञान है, वहीं शोक है। ये चारों कठिन रोग कैसे मिटेंगे, इस पर विचार करो॥ २॥

कबीर गर्व न कीजिये, रंक न हँसिये कोय।
अजहूँ नाव समुद्र में, ना जानों क्या होय॥ ३॥

ऐ मनुष्यो! अपने तन-धन, ज्ञान-प्रभुतादि का अहंकार करके अन्य दीन-दुखियों की हंसी न करो। अभी तुम्हारी नावका समुद्र के बीच है, पता नहीं भविष्य में क्या हो!॥ ३॥

दीप को झोला पवन है, नर को झोला नारि।
ज्ञानी झोला गर्व है, कहँ कबीर पुकारि॥ ४॥

कबीर साहेब पुकारकर कहते हैं कि दीपक को बुझाने वाला तीव्र वायु है, पुरुष को पतित करने वाली स्त्री है (इसी प्रकार स्त्री को विनष्ट करने वाला पुरुष है) और ज्ञानी का सर्वतोभांति से विनाश करने वाला अहंकार है॥ ४॥

अभिमानी कुंजर भये, निज सिर लीन्हा भार।
जम द्वारे जम कूट ही, लोहा गढ़ै लुहार॥ ५॥

अभिमानी लोग हस्ती के समान मस्त बनकर अपने सिर पर अहंता-ममता का बोझा उठा लिये। जैसे लोहा को लुहार गढ़ता है, वैसे चारों खानि रूप यमद्वार में वासना रूपी यमराज जीव को कष्ट देगा॥ ५॥

मद अभिमान न कीजिये, कहैं कबीर समुझाय।
जा सिर अहं जु संचरे, पड़ै चौरासी जाय॥ ६॥

कबीर साहेब समझाकर कहते हैं, मद-मान न करो। जिसकी खोपड़ी में अहंकार प्रविष्ट होता है, वह जीव चौरासी चक्कर में पड़ता है॥ ६॥ ९६४॥

४५

मान को अंग

(मान-बड़ाई का अहं कल्याण-मार्ग का बड़ा रोड़ा है, इसका त्याग करना अपना कर्तव्य है।)

मान बड़ाई कूकरी, धर्मराय दरबार।
दीन लकुटिया बाहिरै, सब जग खाया फार॥ १॥

कर्म-वासनाओं के द्वार पर मान-बड़ाई रूप कुतिया रहती है। दीनता-नम्रता की लाठी जिनके पास नहीं है, ऐसे सारे जगत के लोगों को उसने फाड़ खाया है॥ १॥

भाव—कोई भी कर्म करने पर यदि नम्रता-दीनता न हो, तो उसमें अहंकार उत्पन्न होता है, फिर जीव मान-बड़ाई चाहता है।

मान बड़ाई कूकरी, सन्तन खेदी जान।
पांडव जग पावन भया, सुपच विराजै आन॥ २॥

सन्तों ने मान-बड़ाई को कुतिया जानकर उसे खदेड़ दिया। देखो! निरभिमानी श्वपच-भक्त जब आ विराजे तभी पांडवों का यज्ञ पवित्र हुआ॥ २॥

मान बड़ाई जगत में, कूकर की पहिचान।
प्यार किये मुख चाटई, बैर किये तन हान॥ ३॥

कुत्ते का आदर करो तो वह मुख तक चाटने लगता है और अभाव करो तो काटने दौड़ता है। अभिमानी मनुष्यों की भी यही पहचान है; उनके सामने झुकते जाओ, तो वे सिर पर चढ़े जाते हैं और यदि उनसे वैर करो तो शत्रु बन जाते हैं॥ ३॥

भाव—ऐसे लोगों से प्रेम-वैर दोनों ठीक नहीं है, अपितु उदासीनता ठीक है।

मान बड़ाई ऊरमी, ये जग का व्यवहार।
दीन गरीबी बन्दगी, सतगुरु का उपकार॥ ४॥

जगत के व्यवहार से प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि मान-बड़ाई दुखों के स्वरूप हैं, परन्तु दीनता, गरीवी-भाव, सेवापरायणता तथा सद्गुरु की उपकार-मान्यताएं सुखप्रद हैं ॥ ४ ॥

मान दिया मन हरषिया, अपमाने तन छीन।
कहँ कबीर तब जानिये, माया में लवलीन ॥ ५ ॥

कबीर साहेब कहते हैं कि जब दूसरे के मान देने से मन हर्षित हो, और अपमान देने से शोकित हो—तब समझ लो 'मैं माया में आसक्त हूं' ॥ ५ ॥

कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया को नेह।
मान बड़ाई ईरषा, दुर्लभ तजना येह ॥ ६ ॥

अधिक धन और स्त्री की आसक्ति त्यागना सरल है, परन्तु मान, बड़ाई और ईर्ष्या—इनका त्याग कठिन है ॥ ६ ॥

माया तजे तो क्या भया, मान तजा नहिं जाय।
मान बड़े मुनिवर गलै, मान सबन को खाय ॥ ७ ॥

घर-धन-स्त्री-पुत्रादि मोटी माया का त्याग करने से क्या हुआ, जब अपने-अपने मत-पथ, पोथी-ग्रंथ एवं अन्य नाना प्रकार के अभिमान नहीं त्यागे जाते। अभिमान में पड़कर ही बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी गल गये, यह अभिमान ही सबको खाता है ॥ ७ ॥

कबीर अपने जीवते, ये दो बाँता थोय।
मान बड़ाई कारने, अछता मूल न खोय ॥ ८ ॥

हे मनुष्यो! अपने हृदय से मान-बड़ाई—इन दो बुरी बातों को सर्वथा त्याग दो। इनमें फंसकर अक्षय-मोक्ष या मूल-मानवता को मत नष्ट करो ॥ ८ ॥

बड़ी बड़ाई ऊँट की, लादैं जहँ लग साँस।
मुहकम सलिता लादि के, ऊपर चढ़ै परास ॥ ९ ॥

बड़ी बड़ाई ऊंट की है, वह सिर उठाकर बहुत चलता है, इसीलिए जीवनपर्यन्त बोझा लादता है। उसके ऊपर मुहकम (मजबूत) सलिता (काठी) कसकर, ऊपर से परास (ऊंट चराने वाला) चढ़ लेता है ॥ ९ ॥

मान बड़ाई न करे, बड़ा न बोले बोल।
हीरा मुख से न कहे, लाख हमारा मोल ॥ १० ॥

अपनी मान-बड़ाई न करे और अपने लिए बढ़-बढ़ कर बातें न बोले। हीरा अपने मुख से नहीं कहता कि हमारा मूल्य लाख रुपये हैं॥ १०॥

बड़ी विपति बड़ाई है, नन्हा करम से दूर।
तारे सब न्यारे रहैं, गहैं चाँद अरु सूर॥ ११॥

मान-बड़ाई में बड़ी विपत्ति आती है, और दीनता-लघुता के आचरण से विपत्ति दूर रहती है। देखो! सभी तारागण पृथक रह जाते हैं, केवल (बड़े-बड़े) चन्द्रमा और सूर्य पर ही ग्रहण लगता है॥ ११॥

बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर।
पंथी को छाया नहीं, फल लागै अति दूर॥ १२॥

खजूर-वृक्ष के तुल्य बहुत बड़ा हुआ तो क्या हुआ, उसमें पंथी को छाया नहीं मिलती और फल भी लगता है, तो बहुत दूर॥ १२॥

बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जोरे बड़ी मति नाहिं।
जैसे फूल उजारि का, मिथ्या होय झरि जाहिं॥ १३॥

जाति, धन, विद्या, सौंदर्य, बल एवं मान-बड़ाई में बड़ा हुआ तो क्या हुआ यदि विवेक बड़ा नहीं हुआ तो। जैसे घोर जंगल में फूल लगा और व्यर्थ झड़कर नष्ट हो गया, किसी के काम में न आया॥ १३॥

ऊँचे कुल के कारने, भूलि रहा संसार।
तब कुल की क्या लाज है, जब तन होगा छार॥ १४॥

ऊंची कुल-जाति के अहंकार में संसार के लोग भूले-भूले फिरते हैं, परन्तु इनको समझना चाहिए कि जब शरीर धूल हो जायेगा, तब कुल-जाति की क्या लज्जा रहेगी!॥ १४॥

भाव—अहंकार और लज्जा त्यागकर भक्ति-सत्संग करो।

ऊँचा देखि न रीझिये, ऊँचा पेड़ खजूर।
पंखि न बैठे छायड़े, फल लागै पै दूर॥ १५॥

किसी के सांसारिक वैभव की बड़ाई देखकर उधर आकर्षित मत होओ। देखो! खजूर का पेड़ ऊंचा होता है, परन्तु उसकी छाया में ठीक से पक्षी के बैठने का भी स्थान नहीं रहता, और फल भी दूर लगता है॥ १५॥

ऊँचा पानी न टिकै, नीचे ही ठहराय।
नीचा होय सो भरि पिये, ऊँच पियासा जाय॥ १६॥

ऊंची भूमि पर जल नहीं ठहरता, नीची भूमि में ही टिकता है। पानी पिलाने वाले के हाथ के नीचे जो अपनी अंजुली करता है, वह पेट भर पीता है और ऊंचा किये रहता है वह प्यासा ही जाता है॥ १६॥

बड़ा बड़ाई न करे, छोटा बहु इतराय।
ज्यों प्यादा फरजी भया, टेढ़ा टेढ़ा जाय॥ १७॥

बड़ी बुद्धि वाले अपनी बड़ाई नहीं करते, छोटी बुद्धि वाले ही अभिमान में बहुत इठलाते घूमते हैं। जैसे एक साधारण सिपाही यदि मन्त्री पद पा जाय तो वह टेढ़े-टेढ़े होकर चलता है॥ १७॥

बग ध्यानी ज्ञानी घने, अरथी मिले अनेक।
मान से रहित कबीर कह, सो लाखन में एक॥ १८॥

दम्भी, वाचकज्ञानी एवं धन के लोभी बहुत-बहुत मिलते हैं। कबीर साहेब कहते हैं कि मान से रहित तो लाखों में कोई एक होगा॥ १८॥ ९८२॥

४६

आशा-तृष्णा को अंग

(दुखों की खानि आशा-तृष्णा त्यागने योग्य हैं।)

आशा तो गुरुदेव की, दूजी आस निरास।
पानी में घर मीन का, सो क्यों मरे पियास॥ १॥

हे मनुष्यो! आशा तो एक सद्गुरु-ज्ञान की ही करो, दूसरे मायिक पदार्थों की आशा में पड़कर तो अन्त में निराश होना पड़ता है। जिस मछली का घर पानी में है, वह प्यासी क्यों मरे! (उत्तम नर-तन पाकर भी क्यों दुखी हो!) ॥ १॥

आसा जीवै जग मरे, लोग मरैं मरि जायँ।
धन संचै ते भी मरे, उबरे सो धन खायँ॥ २॥

जगत के सब लोग मरते हैं, परन्तु आशा जीती (सुरक्षित) रहती है। जो धन का बहुत संग्रह करते हैं, वे भी मरते हैं, जो कुछ दिन के लिए रह जाते हैं, वे उस धन को भोगते हैं॥ २॥

आसा त्रिस्ना सिन्धुगति, तहाँ न मन ठहराय।
जो कोइ आसा में फँसा, लहर तमाचा खाय॥ ३॥

आशा-तृष्णा समुद्र की तरंगें हैं, उनमें पड़कर मन शान्त नहीं होता। जो कोई जगत की आशा में फंसता है, वह उसके लहर रूपी तमाचे खाता है॥ ३॥

आसा त्रिस्ना दो नदी, तहाँ न मन ठहराय।
इन दोनों को लंघ करि, चौड़े बैठे जाय॥ ४॥

आशा-तृष्णा रूपी दो नदियों में पड़ने से मन शान्त नहीं हो सकता। अतः इन दोनों को त्यागकर सत्संग-मैदान में जा बैठना चाहिए॥ ४॥

कबीर जोगी जगत गुरु, तजै जगत की आस।
जो जग की आशा करै, जगत गुरु वह दास॥ ५॥

जगत की आशा त्याग करने पर योगी जगत का गुरु है। यदि उसने जगत की आशा की, तो जगत गुरु हो गया और योगी ही दास बन गया॥ ५॥

जोगी है जग जीतता, विहरत है संसार।
एक अँदेशा रहि गया, पीछे पड़ा अहार॥ ६॥

विरक्त होकर जगत-आशा को त्यागते हुए जो संसार में विचरण करता है, यदि उसे जीवन-निर्वाह होने में संदेह है, तो अभी उसके ज्ञान की दुर्वलता है। साधु को अपने आचरण से चलना चाहिए, निर्वाह की चिन्ता नहीं है॥ ६॥

बहुत पसारा जनि करे, कर थोड़े की आस।
बहुत परारा जिन किया, तेई गये निरास॥ ७॥

बहुत तृष्णा मत करो, निर्वाह मात्र का ही विचार रखो। जो बहुत तृष्णा में फंसे, वे ही निराश होकर गये॥ ७॥

आसन मारे कह भयो, मरी न मन की आस।
तेली केरे बैल ज्यों, घर ही कोस पचास॥ ८॥

आसन मारकर ध्यान लगाने से क्या हुआ यदि मन की अनेक जगत-आशाएं नहीं मरीं। वह तो तेली के बैल-सदृश घर ही में पचास कोस चलता है (मन-ही-मन में चक्कर काटा करता है)॥ ८॥

सब आसन आसा तनै, निबरत कोई नाहिं।
निवृत्ति को जानै नहीं, प्रवृत्ति प्रपंचहि माहिं॥ ९॥

निवृत्ति (त्याग) बिना, योग के समस्त आसन शरीर के स्वार्थ तक ही हैं। लोग त्याग वृत्ति को जानते नहीं, प्रपंच-प्रवृत्ति ही में उलझे रहते हैं॥ ९॥

आसा तो गुरुदेव की, और गले की फांस।
चंदन ढिग चंदन भये, देखो आक पलास॥ १०॥

आशा तो गुरु-ज्ञान की ही करो, अन्य जगत की आशा तो गले की फांसी है। देखो! आक-पलास भी मलयगिरि के पास, चन्दन हो जाते हैं॥ १०॥

कबीर सो धन संचिये, जो आगे को होय।
सीस चढ़ावे गाठरी, जात न देखा कोय॥ ११॥

हे मनुष्यो! उस धर्म-परमार्थ रूपी धन का संग्रह करो, जो आज और भविष्य

के लिए भी दृढ़ पूंजी है। सांसारिक धन की गठरी शीश पर बांधकर ले जाते हुए किसी को नहीं देखा गया॥ ११॥

कबीर तृस्ना पापिनी, तासों प्रीति न जोर।
पैंड़ पैंड़ पाछे पड़ै, लागै मोटी खोर॥ १२॥

हे मनुष्यो! तृष्णा पापिनी है, इससे मित्रता मत जोड़ो। अन्यथा यह पग-पग पर पीछे लगी रहेगी और तुम्हारे ऊपर भारी दोष लग जायेगा॥ १२॥

तृस्ना सींची न युझै, दिन दिन बढ़ती जाय।
जावासा का रूख ज्यों, घन मेहा कुम्हिलाय॥ १३॥

तृष्णा को तृप्त करने से वह नहीं बुझती, बल्कि नित्य प्रति बढ़ती ही जाती है। जैसे अधिक वर्षा होने पर जवासा (एक कंटीला झाड़) सूख जाता है॥ १३॥

आस आस जग फंदिया, गले भरम की फाँस।
जन्म जन्म भरमत फिरै, तबहुँ न छूटै आस॥ १४॥

संसार-विषय की आशा-ही-आशा में भ्रम की फांसी गले लगकर जीव बंध जाता है। जन्म-जन्मान्तरों से भटकते हुए बीत गया परन्तु अभी भी विषयों की आशा नहीं छूटती॥ १४॥ ९९६॥

४७

कपट को अंग

(स्वयं किसी के साथ कपट न करो, और अन्य कपटियों से सावधान रहो।)

कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ कपट का हेत।
जानो कली अनार की, तन राता मन सेत॥ १॥

हे मनुष्यो! वहां मत जाओ, जहां कपट का प्रेम हो। उन्हें अनार की कली ही समझो, जो ऊपर तो लाल, परन्तु भीतर सफेद रहता है, इसी प्रकार कपटी मित्र के भी मुख के ऊपर प्रेम की लालिमा दिखती हैं, परन्तु मन में कपट की सफेदी रहती हैं॥ १॥

कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ न चोखा चीत।
परपूटा औगुन घना, मुँहड़ै ऊपर मीत॥ २॥

आपके प्रति जिनके मन में प्रेम का आकर्षण न हो, वहां पर मत जाओ। वे पीठ पीछे अनेक दुर्गुणों का वर्णन करते हैं और केवल मुख पर मित्रता दर्शाते हैं॥ २॥

कबीर तहाँ न जाइये, जहाँ कपट का हेत।
नौ मन बीज जो बोयके, खाली रहिगा खेत॥ ३॥

कपटी मित्र के यहां मत जाओ। ऊसर में नौ मन बीज बोने पर भी खेत पौधा-रहित रहने से खाली-ही-खाली रह जाता है॥ ३॥

हेत प्रीति सों जो मिलै, तासों मिलिये धाय।
अन्तर राखे जो मिलै, तासों मिलै बलाय॥ ४॥

जो हार्दिक प्रेम से मिलना चाहें, उससे दौड़कर मिलो, और जो कपटपूर्वक मिलता है, उससे मिलना उपाधि का घर है॥ ४॥

चित कपटी सबसों मिलै, माँहीं कुटिल कठोर।
इक दुरजन इक आरसी, आगे पीछे और॥ ५॥

यों कपटी हृदय वाला भी सबसे मिलता है; परन्तु उसके हृदय में टेढ़ापन एवं कठोरपन रहता है। एक दुष्ट और एक दर्पण, ये आगे से चिकने और पीछे से काले रहते हैं॥ ५॥

दिल ही पर जो दिल मिलै, तो दिल दगा न होय।
सो दिल कबहुँ न विसरे, कोटि करै जो कोय॥ ६॥

जिन दो व्यक्तियों का मन परस्पर मिल जाता है, तो उनके मन में धोखा नहीं रहता। ऐसे लोगों का पारस्परिक प्रेम नहीं टूटता चाहे कोई करोड़ों विघ्न करे॥ ६॥

ढिंकली का नमना कहा, यह ना बहुरै वीर।
पहिले चरनों लागि के, पीछे सोखै नीर॥ ७॥

ढेंकुली (टेंड़ा) का झुकना, झुकना नहीं कहा जाता, क्योंकि यह स्वार्थी-वीर पीछे खाली नहीं लौटता। पहले चरणों में लगकर पीछे जल सोखता है॥ ७॥

नमन नवाँ तो क्या हुआ, सूधा चित्त न ताहि।
पारधिया दूना नवै, मिरगहि दूकै जाहिं॥ ८॥

जिसका मन पवित्र नहीं है, उसका झुकना (नम्रता लेना) किस काम का! बधिक शिकार के समय दूना झुकता है, परन्तु बाणों से मृग को मार डालता है॥ ८॥

नमन नमन बहु अन्तरा, नमन नमन बहु बान।
ये तीनों बहुते नवैं, चीता चोर कमान॥ ९॥

पवित्र मन और अपवित्र मन वालों की नम्रता में बड़ा अन्तर होता है, नम्रता लेने के स्वभाव भी बहुत प्रकार के होते हैं। चीता, चोर और धनुप—ये तीनों बहुत झुकते हैं, परन्तु दूसरे के धन एवं प्राण लेते हैं॥ ९॥

टेसूँ भँवर न बैठहीं, जो अति फूलै फूल।
खार कपट हृदय बसै, मधुकर तजै समूल॥ १०॥

पलास चाहे बहुत फूले फले, परन्तु उस पर गुणग्राही भंवरा नहीं बैठते; क्योंकि जिसके हृदय में कपट रूपी खारापन है, उसे गुणग्राही समूल त्याग देते हैं॥ १०॥

आगे दरपन ऊजला, पाछे विषम विकार।
आगे पीछे आरसी, क्यों न पड़े मुख छार॥ ११॥

दर्पण आगे उजला और पीछे काला रहता है। इसी प्रकार जिसके आगे कुछ और पीछे कुछ और ही रहता है, उसक मुख में धूल क्यों नहीं पड़ेगी!॥ ११ ॥

कपटी कधी न ऊधरै, सौं साधुन के संग।
मुंज पखालै गंग में, ज्यों भीजै त्यों तंग॥ १२॥

सैकड़ों सन्तों के बीच रहकर भी कपटी मनुष्य का कभी उद्धार नहीं हो सकता। मूंज या सन की रस्सी पानी में जितना ही धोइये, उतना ही वह उलझती (ऐंठती, कड़ी होती) चली जायेगी॥ १२॥

कपटी मित्र न कीजिये, पेट पैठि बुधि लेत।
आगे राह दिखाय के, पीछे धक्का देत॥ १३॥

कपटी से कभी मित्रता न करो, क्योंकि वह आपके हृदय में घुसकर आपका विचार जान लेगा और आगे मार्ग दिखलाकर पीछे से धक्का देकर डुबा देगा॥ १३॥

हिये कतरनी जीभ रस, मुख बोलन का रंग।
आगे भल पीछे बुरा, ताको तजिये संग॥ १४॥

जिसके हृदय में कपट-कतरनी है और जिह्वा में मीठी बातें हैं, मुख से बोलने का सुन्दर भाव जानता है, आगे भलाई की बात करता है, और पीछे बुराई फैलाता है—ऐसे मनुष्यं की संगत छोड़ दो॥ १४॥

सरस सखा ऊजल बरन, एक पगा सूँ ध्यान।
मैं जाना कुल हंस है, कपटी मिला निदान॥ १५॥

सारस का मित्र-बगुला उज्ज्वल रंग का होता है, सरोवर के निकट एक पैर से खड़ा होकर ध्यान लगाता है। यह देखकर मैंने तो जाना कि कोई हंस कुल का सदस्य है; परन्तु जब उसने मछली पर चोंच मारी, तब मैंने समझा कि ये तो अंततः कपटी मिला॥ १५॥

ज्ञानी नमि गुरु मुख नमैं, नमैं चतुर सुजान।
दगाबाज दूना नमैं, चीता चोर कमान॥ १६॥

ज्ञानी, गुरु-भक्त, चतुर, बुद्धिमान—ये सब विनम्र होते हैं। परन्तु चीता, चोर तथा धनुष के समान धोखेबाज दुगुना झुकते हैं॥ १६॥ १०१२॥

भाव—धोखेबाजों के झुकने पर उनसे सावधान हो जाओ, अन्यथा वे घात करेंगे।

४८

दुख को अंग

(संसार दुखों से पूर्ण है, वासना-निवृत्ति से ही दुख मिटता है।)

जा दिन ते जिव जनमिया, कबहुँ न पाया सूख।
डालै डालै मैं फिरा, पातैं पातैं दूख॥ १॥

जिस दिन से संसार में प्राणी जन्म लेता है, कभी सुख नहीं पाता। संसार के प्रत्येक डाली-पत्ता पर घूमकर निरीक्षण किया जा चुका है॥ १॥

कबीर सुख को जाय था, बिच में मिलि गया दुख।
सुख जाहू घर आपने, मैं अरु मेरा दुःख॥ २॥

मनुष्य विषय-सुख के लिए भटक रहा था, इतने में उसे कल्याण-प्राप्ति के लिए विरह रूपी दुख मिल गया। फिर वह कहने लगा—हे विषय-सुख! तुम अपने घर जाओ। मैं और मेरा वैराग्य-विरह रूपी दुख ही का सम्मिलन उत्तम है॥ २॥

सुखिया ढूढ़त मैं फिरूँ, सुखिया मिलै न कोय।
जाके आगे दुख कहूँ, पहिले ऊठै रोय॥ ३॥

संसार में सुखी मनुष्य को ढूंढ़ता फिरा, परन्तु कोई सुखी नहीं मिला। जिसके आगे मैं अपना दुख कहता हूं, वह पहले अपने दुखों से रो उठता है॥ ३॥

जाके आगे इक कहूँ, सो कहवै इकबीस।
एक एक ते दाझिया, कहाँ से काढूँ बीस॥ ४॥

जिसके आगे एक दुख कहा जाय, वह अपना इक्कीस दुख कहने लगता है। एक दुख से तो मनुष्य जल रहा है, फिर बीस दुखों से उसे कैसे निकाला जाय! ॥ ४॥

विवेकी सन्त जिज्ञासु के सब दुखों का अन्त कर सकते हैं, परन्तु जब जिज्ञासु उनके उपदेशानुसार चले।

विष का खेत जो खेड़िया, विष का बोया झाड़।
फल लागे अंगार से, दुखिया के गलहार॥ ५॥

जहर का खेत तैयार किया और जहर का ही पौधा लगाया। उसमें अंगार के सदृश फल लगे, कर्म ने उसका हार बनाकर दुखिया के गले में पहना दिया॥ ५॥

भाव—बुरा कर्म करने से दुख-पर-दुख भोगने निश्चित हैं।

सात दीप नौ खण्ड में, तीन लोक ब्रह्मण्ड।
कहँ कबीर सबको लगै, देह धरे का दण्ड॥ ६॥

सात द्वीप, नौ खण्ड, तीन लोक ब्रह्मांड में देह धरकर कर्म-फलों के भोग सबको भोगने पड़ते हैं॥ ६॥

देह धरे का दण्ड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, अज्ञानी भुगतै रोय॥ ७॥

शरीर-धारण कर प्रारब्ध-भोग सबको भोगना पड़ता है। दुख को ज्ञानी ज्ञान पूर्वक (संतोषयुत) भोगता है, और अज्ञानी रो-रोकर भोगता है॥ ७॥

भूप दुखी अवधूत दुखी, दुखी रंक विपरीत।
कहँ कबीर ये सब दुखी, सुखी संत मन जीत॥ ८॥

राजा दुखी हैं और अवधूत भी दुखी हैं, दरिद्र दुखी हैं और इसके विपरीत स्थिति वाले (धनी) भी दुखी हैं। केवल निर्मल विचार के सन्त ही अपने मन को जीतकर सुखी हैं॥ ८॥ १०२०॥

४९
कर्म को अंग

(कर्मानुसार जीव को फल मिलते हैं, कर्मों का सुधार करना कर्तव्य है)

काया खेत किसान मन, पाप पुण्य दो बीज।
बोया लूनै आपना, काया कसकै जीव॥ १॥

शरीर खेत है, मन किसान है, पाप-पुण्य दो बीज हैं। जो बोया जायेगा, वही काटने को मिलेगा। बुरे कर्म काया में जीव को पीड़ा पहुंचाते हैं॥ १॥

काला मुख कर करम का, आदर लाओ आग।
लोभ बड़ाई छाड़िके, राँचो गुरु के राग॥ २॥

कर्म का मुख काला कर दो और आदर-सम्मान में आग लगाकर जला डालो, और लोभ-बड़ाई का त्यागकर गुरु-ज्ञान का आलाप अलापो॥ २॥

कबीर सजड़ै ही जड़ा, झूठा मोह अपार।
अनेक लुहारे पचि मुये, उझड़त नहीं लगार॥ ३॥

मिथ्या पदार्थों के अपार मोह में यह जीव भली-भांति बंधा हुआ है। अनेक उपदेशक रूपी लोहार उपदेश देकर थक गये, परन्तु मोह-फांसी नहीं कटती॥ ३॥

कबीर चन्दन पर जला, तीतर बैठा माहिं।
हम तो दाझत पंख बिन, तुम दाझत हो काहिं॥ ४॥
कबीर कमाई आपनी, कबहुं न निष्फल जाय।
सात समुद्र आड़ा पड़ै, मिलै अगाड़ी आय॥ ५॥

जलते हुए चन्दन के पेड़ पर एक तीतर आकर बैठ गया, और वह भी जलने लगा। पेड़ कहता है, हम तो इसलिए जलते हैं कि हमारे पंख नहीं हैं, उड़ नहीं सकते, तुम पंख वाले होकर भी क्यों जलते हो? ॥ ४॥ (तीतर उत्तर देता है कि) अपना किया हुआ कर्म बेकार नहीं जाता। सात समुद्र की आड़ में रहे तो भी आगे आकर मिलता है॥ ५॥

भाव—परिवर्तनशील जड़-शरीर में निवासकर जीव ज्ञानस्वरूप होते हुए कर्म-वश दुख भोगता है।

करे बुराई सुख चहै, कैसे पावै कोय।
रोपै पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते होय॥ ६॥

कोई बुरा कर्म करके सुख चाहे, तो वह कैसे पायेगा! बबूल का वृक्ष लगाकर आम का फल कैसे मिलेगा!॥ ६॥

जहँ यह जियरा पगु धरे, बखत बराबर साथ।
जो है लिखा नसीब में, चलै न अविचल बात॥ ७॥

प्राणी जहां-जहां जाता है, उसके कर्म बराबर उसके साथ रहते हैं। जो प्रारब्ध में बना है, उसको भोगना निश्चित है, टल नहीं सकता॥ ७॥

परारब्ध पहिले बना, पीछे बना शरीर।
कबीर अचम्भा है यही, मन नहिं बाँधे धीर॥ ८॥

पहले प्रारब्ध बनकर पीछे शरीर की रचना होती है, परन्तु आश्चर्य यही है कि यह जानकर भी मन धैर्य नहीं पकड़ता॥ ८॥

भाव—कर्मानुसार फल होंगे ही, घबराने की आवश्यकता नहीं।

बखत कहो या करम कहु, नसिब कहो निरधार।
सहस नाम है करम को, मन ही सिरजनहार॥ ९॥

बखत (समय) कहो या कर्म कहो या नसीब कहो; निश्चय ही कर्म के सहस्रों नाम हैं, और उनका बनाने वाला मन ही है॥ ९॥

बाहिर सुख दुख देन को, हुकुम करैं मन माँय।
जब ऊठै मन बखत को, बाहिर रूप धरि आय॥ १०॥

मन प्रारब्ध का रूप धारणकर भीतर से ही बाहर सुख-दुख देने की आज्ञा करता है। जब भोग का समय आता है, तब मन प्रारब्ध रूप होकर बाहर प्रकट होता है॥ १०॥

कीन्हें बिना उपाय के, देव कबहु नहिं देत।
खेत बीज बोवै नहीं, तो क्यों जामें खेत॥ ११॥

स्वयं उपाय करने से ही फल मिलते हैं, देव कुछ नहीं देता (देव-देवी तो मन की कल्पना हैं)। खेत में बीज यदि न बोवे, तो खेत में क्या जामेगा! ॥ ११॥

दुख लेने जावै नहीं, आवै आचायूच।
सुख का पहरा होयगा, दूख करेगा कूच॥ १२॥

कोई दुख लेने नहीं जाता, वह तो अचानक ही आ जाता है। जब थोड़े समय के लिए सुख का पहरा आता है, तब दुख कूच कर जाता है (इस प्रकार कर्म-वश जीव सुख-दुखों के झमेले में पड़ा रहता है)॥ १२॥

रे मन भाग्यहि भूल मत, जो आया मन भाग।
सो तेरा टलता नहीं, निश्चय संसै त्याग॥ १३॥

अरे मन! प्रारब्ध को मत भूल, जो प्राप्त हो उसे अपना प्रारब्ध समझ। तेरे प्रारब्ध के सुख-दुख टल नहीं सकते, अतः निश्चयपूर्वक सन्देह को हटा दे॥ १३॥

तेरा बैरी कोय नहीं, तेरा बैरी फैल।
अपने फैल मिटाय ले, गली गली कर सैल॥ १४॥

तेरा शत्रु कोई नहीं है, तेरा शत्रु तेरी बुराई है। अतः अपनी बुराइयों को मिटा ले, फिर गली-गली में स्वच्छन्द विचरण कर॥ १४॥

चहै अकाश पताल जा, फोड़ि जाहु ब्रह्माण्ड।
कहैं कबीर मिटि हैं नहीं, देह धरे का दण्ड॥ १५॥

आकाश-पाताल भले नाप डालो, और चाहे ब्रह्माण्ड ही क्यों न फोड़ जाओ, परन्तु गुरु कबीर कहते हैं कि देह-धारण करने का प्रारब्ध भोग बिना भोगे मिट नहीं सकता॥ १५॥ १०३५॥

५०
स्वाद को अंग

(जब तक स्वाद की आसक्ति नहीं जीत ली जाती, तब तक मन-इन्द्रियां स्ववश नहीं होंगी, अतः इसे जीतो।)

खट्टा मीठा चर्फरा, जिभ्या सब रस लेय।
चोरों कुतिया मिलि गयी, को अब पहरा देय॥ १॥

खट्टा, मीठा, चर्फरा—सब रस का आस्वादन जिह्वा-देवी ले रही है। फिर चोरों से कुतिया जब मिल गयी, तो अब पहरा कौन देगा॥ १॥

भाव—जिसकी जिह्वा अपने वश में नहीं है, उसकी मन-इन्द्रियां स्ववश नहीं हो सकतीं।

खट्टा मीठा देखि के, रसना मेले नीर।
जब लग मन पाको नहीं, काचो निपट कथीर॥ २॥

खट्टा-मीठा आदि रसीले पदार्थों को देखकर यदि मारे लालच के जिह्वा से पानी छूटने लगा, तो जब तक मन पक्का निर्विषय नहीं हुआ, तब तक मनुष्य नितान्त कच्चा एवं कांच है॥ २॥

अहार करे मन भावता, जिभ्या केरे स्वाद।
नाक तलक पूरन भरै, क्यों कहिये ये साध॥ ३॥

जिह्वा के स्वाद में पड़कर जो मन को अच्छे लगने वाले आहार खोज-खोज कर करते हैं, और नाक तक पूरा भरते हैं, उनको साधु-सन्त क्यों कहना!॥ ३॥

माखी गुड़ में गड़ि रही, पंख रहा लपटाय।
तारी पीटै सिर धुनै, लालच बुरी बलाय॥ ४॥

देखो! स्वाद में पड़कर मक्खी गुड़ में फंस गयी और उसके पंख फंस गये। वह हाथ रगड़ती और सिर पटकती है, परन्तु निकल नहीं पाती, सचमुच लालच बुरी बला है॥ ४॥

मूड़ मुड़ाया मुक्ति को, सालन को पछिताय।
गौड़ा टूटै जोग बिन, लोगन सों सिथिलाय॥ ५॥

मुक्ति-प्राप्ति के लिए मूड़ मुड़ाकर साधु-संन्यासी हुए और मसालेदार तरकारी के लिए पछताते हैं। ऐसे लोगों का मन तो वश में होता नहीं, केवल लोगों को दिखाने के लिए योग के बिना आसन लगाकर अपने पैर दुखाते हैं॥ ५॥

रूखा सूखा खाय के, ठण्डा पानी पीव।
देखि पराई चूपड़ी, मत ललचावै जीव॥ ६॥

रूखा-सूखा (जो अपने पास हो) खाकर ठण्डा पानी पीयो। हे मनुष्य! पराये की घी लगायी हुई रोटी देखकर लालच न कर॥ ६॥

आधी और रूखी भली, सारी सोग सन्ताप।
जो चाहेगा चूपड़ी, बहुत करेगा पाप॥ ७॥

आधी और सूखी रोटी अच्छी है, पेट भर खाने में तो शोक-सन्ताप है और यदि तू घी लगायी हुई रोटी चाहेगा, तो बहुत पाप करेगा॥ ७॥

भाव—पापों से बचने के लिए भोगों का त्याग करना आवश्यक है।

अन पानी का हार है, स्वाद संग नहिं जाय।
जो चाहै दीदार को, चुपड़ी चलै बराय॥ ८॥

अन्न-जल का भोजन है, स्वाद से क्या प्रयोजन, यदि स्वरूप-साक्षात्कार चाहता है, तो चुपड़ी को उपाधि समझकर त्याग दे॥ ८॥

भाव—कल्याण-इच्छुक को भोग-इच्छुक कदापि न होना चाहिए। जो मोटा-महीन प्रारब्ध में मिला हो, उसी से निर्वाह करे। यहां का यह अभिप्राय नहीं है कि घी चुपड़ी रोटी खाना पाप है। अर्थ है कि जब जो मिले केवल शुद्ध और सुपाच्य देखकर ग्रहण कर ले। किसी चीज के लिए कभी आग्रह न रखे। बल्कि अपनी ओर से रूखा-सूखा में ही आनन्द माने।

जिभ्या कर्म कछोतरी, तीनों गृह में त्याग।
कबीर पहिले त्यागि के, पीछे ले बैराग॥ ९॥

जिह्वा की स्वादासक्ति, बुरे आचरण तथा काम-विषय—इन तीनों को

गृहस्थी-आश्रम में ही त्यागकर जब अपने मन को जीत ले, तब पीछे से साधु-वेष लेना उचित है ॥ ९ ॥

जिभ्या कर्म कछोतरी, जो तीनों बस होय।
राजा परजा जमपुरी, गंजि सकै नहिं कोय॥ १०॥

जिह्वा, कर्म-आचरण और शिश्न-इन्द्रिय—ये यदि अपने वश में आ जायं, तो राजा, प्रजा तथा मनोवासनाएं—कोई भी कुछ बिगाड़ नहीं सकते॥ १० ॥ १०४५ ॥

भाव—उपर्युक्त तीनों का विजयी मनोवासनाओं को स्वाधीन कर लेता है।

५१

मांसाहार को अंग

(मांसाहार हिंसायुत, घृणास्पद, रोग-वर्धक एवं धर्म-नाशक होने से सर्वथा त्यागने योग्य है।)

मांसाहारी मानवा, परतछ राक्षस अंग।
ताकी संगत मति करो, पड़त भजन में भंग॥ १॥

मांसाहारी मनुष्य प्रत्यक्ष राक्षस देहधारी है। उसकी संगत मत करो, भजन में बाधा पड़ेगी॥ १॥

मांसाहारी मानवा, परतछ राछस जान।
ताकी संगत मति करै, होय भक्ति में हान॥ २॥

मांसाहारी मनुष्य को प्रत्यक्ष राक्षस जानो। उसकी संगत नहीं करनी चाहिए, अन्यथा भक्ति में हानि होगी॥ २॥

मांस मछरिया खात हैं, सुरापान सों हेत।
ते नर जड़ से जायँगे, ज्यों मूरी को खेत॥ ३॥

जो मांस-मछली खाते हैं, और मदिरा पीने में प्रेम करते हैं, वे मनुष्य मूली की फसल के समान जड़ से समाप्त हो जायंगे॥ ३॥

मांस भखै मदिरा पिवै, धन बिस्वा सों खाय।
जूआ खेलि चोरी करै, अन्त समूला जाय॥ ४॥

जो मांस खाता, मदिरा पीता, वेश्या के साथ भांड़पन करके कमाया हुआ धन खाता, जुआ खेलता और चोरी करता है, वह अन्त में मूल सहित नष्ट हो जाता है॥ ४॥

मांस मांस सब एक है, मुरगी हिरनी गाय।
आँखि देखि नर खात है, ते नर नरकहिं जाय॥ ५॥

मुरगी-हिरणी-गाय—सबके मांस एक समान घृणित मांस ही हैं। घृणा-हिंसा आंखों से देखते हुए जो मनुष्य उसे खाते हैं, वे अवश्य नरक में जायंगे॥ ५॥

यह कूकर को भक्ष है, मनुष देह क्यों खाय।
मुख में आमिष मेलि हैं, नरक पड़े सो जाय॥ ६॥

यह तो कुत्ते का भोजन है, मनुष्य-देह पाकर इसे क्यों खाय! जो अपने मुख में मांस चबायेंगे, वे अवश्य नरक में पड़ेंगे॥ ६॥

ब्राह्मन राजा बरन का, औरों कौम छत्तीस।
रोटी ऊपर माछरी, सबही बरन खबीस॥ ७॥

छत्तीस कौम और सब वर्णों का राजा ब्राह्मण कहा जाता है, परन्तु जहां रोटी के ऊपर मछली-मांस रखे कि ब्राह्मणादिक समस्त जातियां मुर्दाखोर हो गयीं॥ ७॥

तामस बेधे ब्राह्मना, मांस मछरिया खाय।
पाँय लगे सुख मानही, राम कहे जरि जाय॥ ८॥

तामसी ब्राह्मण मांस-मछली खाते हैं। यदि कहो 'पायलागी' तो प्रसन्न हो जाते हैं, और यदि कह दो 'जयराम' तो जल-भुन उठते हैं॥ ८॥

पाँय पुजाये बैठि के, भखै मांस मद दोय।
तिनको दिक्षा मुक्ति नहीं, कोटि नरक फल होय॥ ९॥

जो (ब्राह्मण, साधु या कोई भी हो) गुरु बनकर और बैठकर चरण पुजवाते हैं, और मांस-मदिरा भी खाते-पीते हैं, उनकी दीक्षा से मुक्ति कौन कहे, करोड़ों नरकों का-सा भयंकर परिणाम होगा॥ ९॥

सकल बरन एकत्र ह्वै, शक्ति पूजि मिलि खायँ।
हरिदासन की भ्रान्ति करि, केवल जमपुर जायँ॥ १०॥

सब जातियां इकट्ठी होकर बकरादि का वध कर कल्पित जगदम्बा की पूजा करके खाते हैं, और हरि-भक्तों में भ्रान्ति-वश छूत लगाते हैं, ऐसे लोग केवल नरक (नीची योनि) में जायंगे॥ १०॥

विष्ठा का चौका किया, हाँड़ी सोझै हाँड़।
छूत बरावै चाम का, ताका गुरु है राँड़॥ ११॥

जो विष्ठा (गोबर) का चौका लगाकर हण्डी में हाड़-मांस पकाता है और

दूसरे की देह में छूत मानकर उससे हटता है—ऐसा उपदेश करने वाले का गुरु अज्ञानी है॥ ११॥

जीव हने हिंसा करै, प्रगट पाप सिर होय।
पाप सवन को देखिया, पुन्य न देखा कोय॥ १२॥

जो जीव को मारता एवं हिंसा करता है, प्रत्यक्ष अपने सिर पर पाप लादता है। ये हिंसक सब पापी हैं। कोई पुण्यात्मा नहीं॥ १२॥

जीव हने हिंसा करै, प्रगट पाप सिर होय।
निगम सुनी अस पाप ते, भिस्त गया नहिं कोय॥ १३॥

जीव-हिंसक तो प्रत्यक्ष पापी हैं। वेद सुनकर ऐसे पाप से कोई स्वर्ग नहीं जा सकता॥ १३॥

तिल भर मछरी खाय के, कोटि गऊ दे दान।
कासी करवट लै मरै, तो भी नरक निदान॥ १४॥

तिल भर भी मछली खाकर उससे उद्धार पाने के लिए करोड़ों गऊ दान करे, अन्त में काशी-करवट लेकर मर जाय, तो भी अन्त में नरक ही होगा॥ १४॥

काटाकूटी जे करै, ते पाखण्ड का भेष।
निश्चय राम न जानही, कहँ कबीर संदेश॥ १५॥

कबीर साहेब अपना सन्देश कहते हैं कि जो काटाकूटी अर्थात—जीव-हत्या करते हैं, वे पाखण्ड के वेषधारी हैं। निश्चय समझो, वे राम को नहीं जानते॥ १५॥

आठ बाट बकरी गयी, मांस मुल्ला गये खाय।
अजहूँ खाल खटीक घर, भिस्त कहाँ ते जाय॥ १६॥

बकरी की हिंसा का पाप आठ मार्ग से आठ लोगों पर चला गया, ऐसे मांस को मुल्ला खा गये। उसकी खाल आज भी बधिक के यहां पड़ी हुई हिंसा करने को साक्षी देती है, फिर मुल्ला स्वर्ग कैसे जायंगे!॥ १६॥

मनुस्मृति अध्याय पांच, श्लोक ५१ में लिखा है—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥

अर्थ—हिंसा करने की अनुमति (राय) देने वाला, काट-काट कर पृथक करने वाला, मारने वाला, खरीदने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, परोसने या लाने वाला और खाने वाला—जीव-वध में ये सभी हिंसक हैं।

अण्डे किन बिसमिल किया, मछरी किया हलाल।
जिभ्या के रस स्वाद में, यह नर भया बेहाल॥ १७॥

हे मुसलमान भाइयो! बिसमिल्ला कहकर अण्डा-मछली को हलाल किसने किया है! वास्तव में जिह्वा के रसास्वादन में पड़कर यह मनुष्य पागल बना है॥ १७॥

मुलना तुझे करीम का, कब आया फरमान।
दया भाव हिरदै नहीं, जबह करै हैवान॥ १८॥

हे मौलवी साहब! मेहरबान अल्लाह तआला की कब तेरे लिए फरमाइश आयी है कि 'कुर्बानी कर!' अरे हैवान! तेरे जिगर में दर्द नहीं है, लाचार मूक प्राणियों की हत्या करता है!॥ १८॥

काजी तुझे करीम का, कब आया फरमान।
घट फोड़ा घर घर किया, साहिब का नीसान॥ १९॥

हे काजी साहब! कृपालु खुदा की आज्ञा कब तुम्हारे पास आयी कि 'जीव मारो।' तुम्हारे मतानुसार ही सभी प्राणियों के शरीर खुदा के निशान हैं, फिर क्यों पाप-कर्म को कुर्बानी नाम देकर घर-घर शरीर रूपी घट को फोड़वाता है॥ १९॥

काजी का बेटा मुआ, उर में साले पीर।
वह साहेब सब का पिता, भला न मानै बीर॥ २०॥

काजी साहब का बेटा मर गया, तो उनके दिल में बड़ी पीड़ा होने लगी, परन्तु वह अल्लाह तो (तुम्हारे ही मतानुसार) सबका पिता है, फिर उसके किसी पुत्र को मारने से वह कैसे अच्छा मानेगा!॥ २०॥

पीर सबन की एक सी, मूरख जानै नाहिं।
अपना गला कटाय के, भिस्त बसै क्यों नाहिं॥ २१॥

मनुष्य, पशु, पक्षी—सबकी पीड़ा एक सदृश है; परन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं जानता। यदि यज्ञ में मारे हुए प्राणी स्वर्ग में जाते हैं या कुर्बानी से स्वर्ग मिलता है, तो ये अपना गला कटाकर क्यों नहीं स्वर्ग में जा बसते!॥ २१॥

मुरगी मुलना सो कहै, जयह करत हो मोहि।
साहिब लेखा माँगही, संकट पड़िहैं तोहि॥ २२॥

मौलवी साहब से मुरगी मानो कहती हैं, आज तुम हमें तो मार रहे हो, परन्तु रोजकयामत के दिन जब खुदा तुमसे हिसाब मांगेगा, तब तुम्हारे ऊपर संकट पड़ेगा॥ २२॥

कबीर काजी स्वाद वश, जीव हनत है सोय।
चढ़ि मसीत एकै कहै, दरगह साँचा होय॥ २३॥

कबीर साहेब कहते हैं कि काजी जिह्वा के स्वाद-वश जीव मारने की आज्ञा देते हैं, परन्तु मसजिद पर चढ़कर काजी-मुल्ला कहते हैं कि एक खुदा ही सब जगह है और उसका दरबार सच्चा है (जब सच्चा है, तब इस हिंसा के परिणाम में तुम्हारी खबर क्यों न लेगा!)॥ २३॥

काजी मुलना भरमिया, चले दुनीके साथ।
दिल सो दीन निवारिया, करद लई अब हाथ॥ २४॥

दुनिया के साथ चलकर काजी-मुल्ला भटक-मरे। उन्होंने दिल से मेहरबानी-धर्म त्यागकर हाथ में बेरहम की छूरी ले ली॥ २४॥

काला मुँह करि करद का, दिल सों दुई निवार।
सबही रूह सुभान है, अहमक मुला न मार॥ २५॥

छूरी का मुख काला कर उसे तोड़कर फेंक दो; और मेरे बन्धु के अतिरिक्त दूसरा भी है—यह पराया-भाव निकाल दो (समस्त प्राणधारियों को सजाति-बन्धु समझो।) सभी जीव ईश्वर स्वरूप हैं, हे भोले मुल्ला! किसी जीव को मत मार!॥ २५॥

जोर कहीं जबहै करे, मुख सो कहै हलाल।
साहिब लेखा माँगसी, होसी कौन हवाल॥ २६॥

जबर्दस्ती खुदा के नाम कुर्बानी कहकर जीव-हत्या करता है और मुख से हलाल (उचित) हुआ कहता है। अरे प्यारे भोले! तेरा खुदा जब तेरे से हिसाब मांगेगा तब तेरी क्या दशा होगी!॥ २६॥

जोर किये ते जुलुम है, माँगे न्याब खुदाय।
खालिक दर खूनी पड़ा, मार मुँही मुँह खाय॥ २७॥

जबर्दस्ती करना ही जुर्म है, रोजकयामत के दिन खुदा इसका जवाब मांगेगा। फिर खुदा के दरबार में तू हत्यारा पड़ा-पड़ा मुंहे मुंह मार खायेगा॥ २७॥

गला काटि कलमा भरै, कीया कहै हलाल।
साहिब लेखा माँगसी, तबहीं कौन हवाल॥ २८॥

हत्या करना रूपी महान अजाब (पाप) कर्म करके कलमा पढ़ते हैं और कहते हैं जायज है, परन्तु इनका खुदा इनसे हिसाब मांगेगा, तब इनकी चिथड़ी उड़ेगी॥ २८॥

गला काटि बिसमिल करे, ते काफिर बे बूझ।
औरों को काफिर कहैं, अपना कुफर न सूझ॥ २९॥

बिसमिल्लाह कहकर किसी प्राणी का जो गला काटता है, वह काफिर और अहमक है। ये मताभिमानी लोग दूसरे को तो काफिर कहते हैं, परन्तु इन्हें अपनी शैतानियत नहीं दीखती ॥ २९॥

गला गुसा को काटिये, मियाँ कहर को मार।
जो पाँचों बिसमिल करै, तब पावै दीदार॥ ३०॥

हे मियां! गुस्सा का गला काटो और जुर्म को मारो। जो अपनी पांचों इन्द्रियों की कुर्बानी करे (दमन करे), वह खुदा के दर्शन पाता है॥ ३०॥

भाव—जीव खुद ही खुदा है, स्वरूप-साक्षात्कार होना ही दर्शन पाना है।

यह सब झूठी बन्दगी, बिरिया पाँच निमाज।
साँचहिं मारे झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज॥ ३१॥

पांच बार नमाज पढ़ना—यह सब झूठी बन्दगी है। झूठे (शब्दजाल मात्र) ईश्वर-बिसमिल्लाह पढ़कर, सच्चे जीव रूपी ईश्वर को मारते हैं, अतः काजी साहब अपना अकल्याण ही करते हैं॥ ३१॥

भाव—कल्पित ईश्वर-खुदा के नाम पर सुख-दुख अनुभव करने वाले जीवों की हत्या करना अधर्म है। वस्तुतः मानव मात्र के लिए अहिंसा-दया ही सच्चा धर्म है।

सेख सबूरी बाहिरा, हाँका जम के जाय।
जिनका दिल साबुत नहीं, तिनको कहाँ खुदाय॥ ३२॥

शेख जी के धैर्य एवं सन्तोष बाहर पड़ गये हैं, अतः हिंसा अन्याय करने के परिणामस्वरूप नरक में ढकेले जायंगे। जिनका दिल साफ नहीं है, उनके लिए खुदा कहां! ॥ ३२ ॥

इसीलिए तार्किक महारथी माननीय महात्मा श्री निर्मल साहेब कहते हैं—

हुस्न में फँसे फटफटाते पड़े हो। गालों से ईश्वर-खुदा पर अड़े हो॥
दया धर्म और दीनताई नहीं है। करे छिप के अवगुण खुदाई कही है॥
खुदा-ईश मिलने का कैसा यतन है। नहीं जानते हो उसी से पतन है॥
सारा हुस्न आदत बुरी बात छोड़ो। बीबी औ बच्चों से नाता न जोड़ो॥
बहिर्गत वृत्ति को खुदा दूर ही है। अंतर्गत वृत्ति को तो निज मूर ही है॥

(निर्मल सत्यज्ञान प्रभाकर-न्यायनामा)

कबीर तेई पीर है, जे जाने पर पीर।
जे पर पीर न जानई, ते काफिर बे पीर॥ ३३ ॥

वास्तव में पीर (गुरु) वही है, जो पराये की पीड़ा अपने समान जानता है। जो पर-पीड़ा अपने समान नहीं जानता, वह बेपीर काफिर (शैतान) है॥ ३३ ॥

खुश खाना है खीचड़ी, माहि पड़ा टुक लौन।
मांस पराया खाय के, गरा कटावै कौन॥ ३४ ॥

जरा-सा नमक डालकर खिचड़ी खाना मंगलमय है। पराये का मांस खाकर बदले में कौन अपना गला कटावे! ॥ ३४ ॥

कहता हूँ कहि जात हूँ, कहा जु मान हमार।
जाका गल तुम काटिहो, सो फिर काटि तुम्हार॥ ३५ ॥

यदि हमारी बात मानो, तो मैं कहता हूं और कहते जाता हूं—जिस प्राणी का गला तुम आज काटोगे, वह किसी जन्म में तुम्हारा भी काटेगा (या किसी प्रकार भी, तुमको बदला भोगना पड़ेगा) ॥ ३५ ॥

हिन्दू के दाया नहीं, मेहर तुरक के नाहिं।
कहैं कबीर दोनों गये, लख चौरासी माहिं॥ ३६ ॥

जिन हिन्दू-मुसलमानों में दया-मेहरवानी नहीं है और जीव हिंसा करते हैं, कबीर साहेब कहते हैं, वे सब नरक में जायंगे॥ ३६ ॥

मुसलिम मारे करद सों, हिन्दू मार तलवार।
कहँ कबीर दोनों मिलि, जैहैं जम के द्वार॥ ३७॥

मुसलमान लोग छूरी से रेतकर प्राणि-वध करते हैं और हिन्दू लोग तलवार या अन्य शस्त्र से झटका मारकर हत्या करते हैं। गुरु-कबीर कहते हैं ये दोनों मिलकर नरक में जा पड़ेंगे॥ ३७॥

अजामेध गोमेध जग, अश्वमेध नरमेध।
कहँ कबीर अधर्म को, धर्म बतावै वेद॥ ३८॥

कबीर साहेब कहते हैं कि अजामेध, गोमेध, अश्वमेध तथा नरमेध आदि यज्ञ जिनमें कि जीव-हत्या होती है, इस महान अधर्म को वेद धर्म बताते हैं॥ ३८॥ १०८३॥

कोई भी धर्मग्रन्थ हो, उसमें आए हुए हिंसा के आदेशों का त्याग करना ही मानवता है।

५२

नशा को अंग

(धन, धर्म और बुद्धिनाशक नशा का परित्याग करो।)

कलियुग काल पठाइया, भाँग तमाखू फीम।
ज्ञान ध्यान की सुधि नहीं, बसै इन्हीं के सीम॥ १॥

पाप रूपी काल ने भांग, तम्बाकू और अफीम दिया। लोगों को ज्ञान-ध्यान का तो लक्ष्य नहीं है, बस इन्हीं (नशीले पदार्थों) के निकट बसते हैं॥ १॥

भाँग तमाकू छूतरा, आफू और शराब।
कौन करेगा बन्दगी, ये तो भये खराब॥ २॥

अशुद्ध भांग, तम्बाकू, अफीम और शराब खाने-पीने वाले तो भ्रष्ट हो गये हैं। इनकी बन्दगी कौन करेगा! ॥ २॥

भाँग भखै बल बुद्धि को, आफू अहमक होय।
दोय अमल औगुन कहा, ज्ञानवंत नर जोय॥ ३॥

ज्ञानवानों ने निम्न दो व्यसनों को दुर्गुण रूप कहा है—एक भांग और दूसरा अफीम। भांग खाने से बल-बुद्धि घटती है, तथा अफीम खाने से मनुष्य अज्ञानी हो जाता है॥ ३॥

औगुन कहूँ शराब का, ज्ञानवंत सुनि लेय।
मानुष सो पशुवा करै, द्रव्य गाँठि का देय॥ ४॥

ऐ सज्जनो! शराब का दोष कहता हूं, सुनो, यह शराब मनुष्य को पशु बना देती है और पास से पैसा भी देना पड़ता है॥ ४॥

काम हरक्कत बल घटै, तृस्ना नाहीं ठौर।
ढिग है बैठे दीन के, एक चिलम भर और॥ ५॥

चिलम की दशा भी सुनिये! चिलमबाज के काम का अकाज होता है, उसके

शरीर की शक्ति घटती है; तृष्णा की स्थिरता नहीं रहती। लाचा: बनकर अन्य चिलमबाजों के पास बैठता है और कहता है 'एक चिलम और भरो' ॥ ५ ॥

छाजन भोजन हक्क है, और अनाहक लेय
आपन दोजख जात है, औरों दोजख देय ।६॥

वस्त्र-भोजन लेना निर्वाह में आवश्यक है, नशीले पदार्थ तो ःःुचित रूप से लेता है। व्यसनी बनकर स्वयं नरक में जाता है और दूसरे कः वही व्यसन सिखाकर उसे भी नरक में ढकेलता है ॥ ६ ॥

गऊ जो बिष्ठा भच्छई, बिप्र तमाखू भंग
साधू सस्तर बाँधई, यह कलियुग का रंग॥७॥

गाय का विष्ठा खाना, ब्राह्मणों का तम्बाकू-भांग आदि खाना-पीना और साधु-वेषधारियों को शस्त्र बांधना—यह पाप का लक्षण है ॥ ७ ॥

अमल अहारी आतमा, कबहु न पावै पार।
कहँ कबीर पुकारि के, त्यागो ताहि विचार॥ ८॥

नशा खाने वाले मनुष्य कभी शांति नहीं पाते। कबीर साहेब पुकारकर कहते हैं कि इसका विचारपूर्वक त्याग करो ॥ ८ ॥

मद तो बहुतक भाँति का, ताहि न जानै कोय।
तन मद मन मद जाति मद, माया मद सब लोय॥ ९॥
विद्या मद औ गुनहि मद, राजमद उनमद।
इतने मद को रद करे, तब पावै अनहद॥ १०॥

मद अनेक प्रकार के हैं, उसे कोई जानता नहीं। शरीर-मद, मन-मद, जाति-मद, माया (धन) मद, विद्या-मद, गुण-मद और राज-मद—ये सब उन्माद बढ़ाने वाले हैं। इतने मद को मिटा देने पर ही मनुष्य माया के मद से रहित, स्वस्वरूप चेतन पद को प्राप्त होता है ॥ ९-१० ॥

अपने मन की चालाकी का घमण्ड होना ही 'मन-मद' है।

भाँग तमाकू छूतरा, जन कबीर जे खाहिं।
जोग यज्ञ जप तप किये, सबै रसातल जाहिं॥ ११॥

अशुद्ध भांग-तम्बाकू जो खाते हैं, योग, यज्ञ, जप, तप भले करें, वे सब प्रकार से नष्ट होते हैं ॥ ११ ॥

भाँग तमाखू छूतरा, सुरापान लै घूँट।
कहैं कबीर ता जीव का, धर्मराय सिर कूटै॥ १२॥

अशुद्ध भांग-तम्बाकू-शराब जो खाता-पीता है, उस व्यसनी जीव का उसकी कर्म वासनाएं ही सिर तोड़ेंगी॥ १२॥

भाँग तमाखू छूतरा, इनसे करै पियार।
कहैं कबीर सो जीयरा, बहुत सहै सिर मार॥ १३॥

अशुद्ध भांग-तम्बाकू आदि से प्रेम करने वाले के सिर पर बहुत मार पड़ती है, वह अपने पाप से ही नांचे जाता है॥ १३॥

भाँग तमाखू छूतरा, पर निन्दा पर नार।
कहैं कबीर इनको तजै, तब पावै दीदार॥ १४॥

अशुद्ध भांग-तम्बाकू, पराये की निन्दा तथा परायी-स्त्री—गुरु कबीर कहते हैं—इनको त्यागने पर ही स्वरूप-साक्षात्कार के लिए योग्य बन सकते हो॥ १४॥

सुरापान अचवन करै, पिवै तमाखू भंग।
कहैं कबीर ऐ रामजन, तिनको करो न संग॥ १५॥

जो शराब पीते और भांग-तम्बाकू पीते-खाते हैं, कबीर साहेब कहते हैं हे रामजनो! ऐसे लोगों की संगत तक न करो॥ १५॥

राखें बरत एकादशी, करै अन्न को त्याग।
भाँग तमाखू न तजै, कहैं कबीर अभाग॥ १६॥

कबीर साहेब कहते हैं कि जो अन्न को त्यागकर एकादशी व्रत रहते हैं, परन्तु भांग-तम्बाकू नहीं छोड़ते, वे अभागे जीव हैं॥ १६॥

हरिजन को सोहै नहीं, हुका हाथ के माहिं।
कहैं कबीर राम जन, हुक्का पीवै नाहिं॥ १७॥

हरिभक्तों के हाथ में हुक्का नहीं शोभता। कबीर साहेब कहते हैं कि राम-भक्त हुक्का (या बीड़ी-सिगरेट) नहीं पीते॥ १७॥

हुक्का तो सोहै नहीं, हरिदासन के हाथ।
कहैं कबीर हुक्का गहै, ताको छोड़ो साथ॥ १८॥

हरि-भक्तों के हाथ में हुक्का नहीं शोभता। जो हाथ में हुक्का (या बीड़ी-सिगरेट आदि) पकड़े, उसका साथ छोड़ दो॥ १८॥

अमली हो यहु पाप से, समुझत नाहीं अन्ध।
कहैं कबीर अमलि दो, काल चढ़ावै कन्ध॥ १९॥

कबीर साहेब कहते हैं, अविवेकी मनुष्य यह नहीं समझता कि बड़े पाप से लोग व्यसनी होते हैं। इन व्यसनियों को काल उठाकर गड्ढे ही में डालेगा॥ १९॥

जहँ लग अमल हराम सब, दोऊ दीन के माहिं।
कहैं कबीर ऐ रामजन, अमली हूजै नाहिं॥ २०॥

हिन्दू-मुसलमान—मनुष्यमात्र के लिए सर्व दुर्व्यसन त्याज्य हैं। कबीर साहेब कहते हैं ऐ रामजनो! अमली मत बनो॥ २०॥

भौंड़ी आवै बास मुख, हिरदा होय मलीन।
कहैं कबीर ऐ रामजन, माँगि चिलम नहिं लीन॥ २१॥

तम्बाकू-गांजा आदि के सेवन से सिर में घुमरी (चक्कर) तथा मुख में दुर्गन्धी आती है। कबीर साहेब कहते हैं ऐ रामजनो, किसी से चिलम मांगकर न लो॥ २१॥

मुख में थूकन दे नहीं, मूहर कोइ जन देहि।
कहैं कबीर या चिलम को, जूठ जगत मुख लेहि॥ २२॥

चाहे कोई गिन्नी देकर थूकना चाहे, तो भी लोग अपने मुंह में थूकने नहीं देंगे। कबीर साहेब कहते हैं कि यह जगत का जूठा हुक्का-चिलम सब पीते हैं॥ २२॥
॥ ११०५॥

गांजा-भांग, तम्बाकू, शराब, बीड़ी-सिगरेट आदि सर्व दुर्व्यसनों को सर्वथा त्यागकर पवित्र बनो।

५३
विवेक को अंग

(सार-असार, जड़-चेतन का पृथक करना ही विवेक है।)

फूटी आंख विवेक की, लखै न सन्त असन्त।
जाके संग दस बीस हैं, ताको नाम महन्त॥ १॥

लोगों के विवेक की आंखें फूट गयी हैं, वे सन्त-असन्त नहीं परख पाते। जिनके साथ में दस-बीस साधु-वेषधारी या मनुष्य हो गये, उन्हीं का नाम महन्त हो गया॥ १॥

जब लग नहीं विवेक मन, तब लग लगै न तीर।
भौसागर नामी तरै, सतगुरु कहैं कबीर॥ २॥

जब तक हृदय में विवेक नहीं आता, तब तक कोई कल्याण नहीं पाता। कबीर साहेब कहते हैं कि सद्गुरु की कृपा से संसार-सागर से तो कोई विरला ही तरता है॥ २॥

प्रगटै प्रेम विवेक दल, अभय निसान बजाय।
उग्र ज्ञान उर आवतै, जग का मोह नशाय॥ ३॥

प्रेम-भक्ति के प्रभाव से जब हृदय में विवेक-सेना प्रकट होती है, तब श्रेष्ठज्ञान हृदय में आते ही निर्भयता का नगाड़ा बजाकर (विवेक सेना) जगत-मोह के दल का विनाश कर देती है॥ ३॥

गुरु पशु नर पशु नारि पशु, वेद पशू संसार।
मानुष ताको जानिये, जाहि विवेक विचार॥ ४॥

गुरु का पक्ष लेने वाले—गुरु पशु; बड़े-बड़े मनुष्यों का पक्ष लेने वाले—नरपशु; स्त्री में आसक्त रहने वाले—नारिपशु; विवेक छोड़कर किसी शास्त्र का पक्ष लेने वाले—वेदपशु—संसार में ये सब पशु हैं। मनुष्य उसी को समझो जो किसी का पशु (पक्षपाती) न बनकर विवेक-विचार से चलता है॥ ४॥

कहँ कबीर पुकारि के, सन्त विवेकी होय।
जामें शब्द विवेक है, छत्र धनी है सोय॥५॥

कबीर साहेब पुकारकर कहते हैं कि सन्त विवेकी होते हैं। जिनमें सार-असार शब्दों का विवेक है, वही छत्रधनी—सर्वोपरि सम्राट है॥४॥

भाव—अपनी किताबों के हरफों में अपनी बुद्धि को जिन्होंने बन्द कर दिया है, वे विवेकी नहीं हो सकते। जहां पर पक्षपात एवं अज्ञान का अन्धकार है कि हमारी किताब ईश्वरीय है, उसमें जो लिखा है, सब परम प्रमाण है, वहां विवेक से क्या प्रयोजन! ऐसे अन्धविश्वासी सत्य नहीं समझ सकते। वास्तव में किसी ग्रंथ का पक्ष नहीं रखना चाहिए। सार-असार शब्दों का विवेक होना चाहिए। पुस्तकों के पक्षपाती एवं जड़ पुस्तकों के पूजने वाले मूर्ति-पूजक बुतपरस्तों से अधिक गये बीते हैं।

साधू मेरे सब बड़े, अपनी अपनी ठौर।
शब्द विवेकी पारखी, सो माथे के मौर॥६॥

अपने-अपने स्थान पर हमारे सभी सन्त श्रेष्ठ हैं। परन्तु सार-असार शब्दों के विवेकी-पारखी सन्त सर्वोपरि सिरमुकुट हैं॥६॥१११९॥

५४
विचार को अंग

(विचार निर्मल जल के समान मानस-मल को धोता है, अतः विचार ग्रहण करो।)

कबीर सोच विचारिया, दूजा कोई नाहिं।
आपा पर जब चीन्हिया, उलटि समाना माहिं॥ १॥

हे जिज्ञासुओ! सोच-विचार कर देखो, तुम्हारे ऊपर कोई दूसरा नहीं हैं। जब अपनी श्रेष्ठता की परख हो गयी, तब साधक बाहर की ओर से मन घुमाकर अपने आप चैतन्य स्वरूप में तन्मय हो जाता है॥ १॥

राम राम सब कोइ कहै, कहने माहिं बिचार।
सोई राम जो सति कहै, सोई कौतिकहार॥ २॥

राम-राम सब कोई कहते हैं, परन्तु उनके कहने में भिन्न-भिन्न विचार होते हैं। वही राम कहकर सती-स्त्री सती होती है, और वही राम तमाशा देखने वाले भी कहते हैं॥ २॥

आग कहै दाझै नहीं, पाँव न दीजै माहिं।
जो पै भेद न जानहीं, राम कहा तो काहिं॥ ३॥

आग में यदि पैर न डाले, तो केवल आग-आग कहने से पैर नहीं जलेगा। इसी प्रकार यदि राम का भेद न जाना, तो केवल राम कहने से क्या होता है!॥ ३॥

ज्यों आवै त्यों ही कहै, बोलै नहीं बिचार।
हतै परायी आतमा, जीभ लिये तलवार॥ ४॥

कितने लोग तो, उनके मन में जैसी बात आयी, मशीन के समान झोंकते रहते हैं। वे अपनी जिह्वा में कटु वचन रूपी तलवार बांधकर परायी आत्मा को कष्ट देते रहते हैं॥ ४॥

सब काहू का लीजिये, साँचा शब्द निहार।
पक्षपात न कीजिये, कहैं कबीर विचार॥ ५॥

कबीर साहेब विचारपूर्वक कहते हैं कि सबसे सार-निर्णयपूर्ण वचनों को ग्रहण कर लो। इसमें पक्षपात मत करो ॥ ५ ॥

कबीर हम सब की कहैं, हमरी कही न जाय।
पूरब की बातां कहे, पच्छिम जाय समाय॥ ६ ॥

हे जिज्ञासुओ! हमने तो सबके कसर-विकारों को परखाया है, परन्तु हमारी कही हुई निष्पक्ष बात पक्षपातियों के हृदय में प्रविष्ट नहीं होती। मैं सामने बात करता हूं, तो लोग पिछड़कर पीछे धंसते हैं ॥ ६ ॥

आजा का घर अमर है, बेटा के सिर भार।
तीन लोक नाती ठगे, पंडित करो विचार॥ ७ ॥

अजन्मा चेतन पुरुष का स्वरूप अमर है, मन-पुत्र के ऊपर संसार-प्रपंच का बोझा है। मन से उत्पन्न काम, क्रोध, लोभ, मोहादि नातियों ने त्रिगुणी समस्त जीवों को ठगकर भिखार बना दिया है, हे पण्डितो! विचार करो ॥ ७ ॥

आचारी सब जग मिला, बिचारी मिला न कोय।
कोटि अचारी बारिये, एक बिचारी होय॥ ८ ॥

जगत में आचारी बहुत मिलते हैं, विचारी कम मिलते हैं। एक विचारवान पर करोड़ों आचारी न्योछावर करने योग्य हैं ॥ ८ ॥

सोइ अच्छर सोई भनै, सोई जन जीवंत।
अकिलमन्द कोइ कोइ मिलै, महारस अमि पीवंत॥ ९ ॥

वही अक्षरों (विद्याओं) का ज्ञाता, प्रवक्ता, जीवित तथा बुद्धिमान है, जो स्वरूपज्ञान रूपी महान रस को पीता है, परन्तु ऐसे पुरुष कम मिलते हैं ॥ ९ ॥

मानुष सोई जानिये, जाहि विवेक विचार।
जाहि विवेक विचार नहिं, सो नर ढोर गँवार॥ १० ॥

मनुष्य उसी को जानो, जिसके विवेक-विचार हैं। जिसके विवेक-विचार नहीं हैं, वह मनुष्य गंवार पशु है ॥ १० ॥ ११२१ ॥

५५
धीरज को अंग

(अपने मार्ग में एकरस चलते रहने के लिए धैर्य की परम आवश्यकता है।)

धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घड़ा, रितु आये फल होय॥ १॥

हे मन! धैर्य धारण कर, धीरे-धीरे सब कुछ (होने योग्य) हो जाता है। माली सैकड़ों घड़ा जल सींचता है, परन्तु समय आने पर फल होता है (तुरन्त नहीं)॥ १॥

कबीर धीरज के धरे, हाथी मन भर खाय।
टूक एक के कारने, स्वान घैर घर जाय॥ २॥

धैर्य धारण करने से अपने स्थान पर ही हाथी मन भर का आहार पाता है, परन्तु एक टुकड़े के लिए कुत्ता घर-घर दौड़ता है॥ २॥

मैं मेरी जब जायगी, तब आवैगी और।
जब यह निहचल होयगा, तब पावैगा ठौर॥ ३॥

शरीर-संसार की जब अहन्ता-ममता नष्ट होगी, तभी स्वरूपबोध प्राप्त होगा। जब यह मन अपने आप ही में निश्चल हो जायेगा, तभी स्थिति की प्राप्ति होगी॥ ३॥

बहुत गयी थोरी रही, ब्याकुल मन मत होय।
धीरज सबको मित्र है, करी कमाइ न खोय॥ ४॥

बहुत बीत गया, थोड़ा और बाकी है; मन में अधीर मत होओ। धैर्य ही सबका मित्र है, बहुत दिनों की की हुई कमाई नष्ट मत करो॥ ४॥

धीरज बुधि तब जानिये, समुझै सब की रीत।
उनका अवगुन आप में, कबहुँ न लावै मीत॥ ५॥

हे मित्र! धैर्य-बुद्धि आई हुई तभी समझो, जब सबका व्यवहार समझे और सबके दुर्गुणों को कभी अपने में न लावे ॥ ५ ॥

फिकर सबीको खा गयी, फिकरहि सबका पीर।
फिकिर का फाका करै, ताका नाम फकीर ॥ ६ ॥

चिन्ता सबको खा गयी, अतः सबका गुरु चिन्ता ही बनी बैठी है। जो चिन्ता को ही खा जाय, उसका नाम फकीर है ॥ ६ ॥ ११५७ ॥

५६

क्षमा को अंग

(क्षमा महान शस्त्र है, क्षमा धारण करने से ही सर्वत्र विजय है।)

क्षमा बड़न को चाहिये, छोटन को उत्पात।
कहा विश्नु की घटि गई, जो भृगु मारी लात॥ १॥

छोटे लोग भले ही उपद्रव मचायें, परन्तु बड़ों को क्षमा ही करना चाहिए। भृगुमुनि ने जो श्री विष्णु भगवान की छाती में पैर मारा, तो इससे विष्णु जी की क्या कमी हो गयी! (क्षमा करने से उनकी बड़ाई ही हुई) ॥ १ ॥

क्षमा क्रोध की छै करै, जो काहू पै होय।
कहैं कबीर ता दास को, गंजि सकै नहिं कोय॥ २॥

क्षमा क्रोध का विनाश करती है, यदि किसी के पास वह हो तो। कबीर साहेब कहते हैं, उस विनम्र क्षमालु का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता॥ २॥

भली भली सब कोइ कहै, रही क्षमा ठहराय।
कहैं कबीर शीतल भया, गई जु अगिन बुझाय॥ ३॥

सांसारिक पदार्थों को अच्छा-अच्छा सब कहते हैं, परन्तु वास्तव में सबसे अच्छी क्षमा की स्थिरता ही है, कबीर साहेब कहते हैं, शीतल हो जाने पर क्रोधाग्नि बुझ जाती है॥ ३॥

भली भली सब कोइ कहैं, भली क्षमा को रूप।
जाके मनहिं क्षमा नहीं, सो बूड़ै भव कूप॥ ४॥

मायिक वस्तुओं को उत्तम-उत्तम सब कहते हैं, परन्तु क्षमा का स्वरूप ही सर्वोत्तम है। जिसके हृदय में क्षमा नहीं है, वह संसार-सागर में डूब मरता है॥ ४॥

करगस सम दुर्जन वचन, रहै सन्त जन टार।
बिजुली पड़ै समुद्र में, कहा सकेगी जार॥ ५॥

दुष्टों के वचन आरा के समान होते हैं, परन्तु सन्तजन उनको सहन कर लेते हैं। बिजली समुद्र में गिर पड़े, तो क्या जलायेगी!॥ ५॥

काँच कथीर अधीर नर, जतन करत है भंग।
साधू कंचन ताइये, चढ़ै सवाया रंग॥ ६॥

कांच और रांगा को आंच दिखाते ही जैसे वे टूट या पिघल जायंगे, इसी प्रकार धैर्य-हीन मनुष्य रक्षा करते हुए भी, जरा-सी प्रतिकूलता आने पर विनष्ट हो जाते हैं। परन्तु सन्त और सोना को कष्ट, प्रतिकूलता एवं आंच मिलने पर सवाया उत्तम रंग वाले (खरे) हो जाते हैं॥ ६॥

काँचे को क्या ताइये, होत जतन में भंग।
साधू सज्जन ताइये, चढ़ै सवाया रंग॥ ७॥

कच्चे मनुष्य पर क्या कसौटी करोगे, वह तो सम्हालते-सम्हालते नष्ट होता है। सन्त-सज्जन पर ही कसौटी करो, जो प्रतिकूलता में सवा गुणा अधिक निखर आते हैं॥ ७॥

सबल क्षमी निर्गर्व धनी, कोमल विद्यावंत।
भव में भूषन तीन हैं, औरों सबै अनन्त॥ ८॥

बलवान की क्षमा, धनी की अभिमान-हीनता और विद्वान की कोमलता-नम्रता—संसार में ये तीन, तीनों की शोभा हैं और सब तो अनन्तों हैं, कहां तक कहा जाय! ॥ ८॥ ११३५॥

५७

शील को अंग

(शील सर्वोच्च गुण है, शीलवान मनुष्य ही मनुष्य है।)

सील क्षमा जब ऊपजै, अलख दृष्टि तब होय।
बिना शील पहुँचै नहीं, लाख कथै जो कोय॥ १॥

शील-क्षमा जब हृदय में उत्पन्न होते हैं, तब मनुष्य का दृष्टिकोण सर्वोच्च हो जाता है, और वह अभौतिक परम-पद को प्राप्त करता है। कोई लाखों कथनी करे, परन्तु बिना शील स्वभाव धारण किये कल्याण के उच्च शिखर पर नहीं पहुंच सकता॥ १॥

सील गहै कोई सावधान, तन पहरे पर जाग।
बासन बासन के खिसै, चोर न सकई लाग॥ २॥

कोई सावधान पुरुष ही शील धारणकर शरीर-इन्द्रियों की रखवाली में जाग्रत रहता है। जैसे एक-एक बरतन के खिसक जाने पर खरभर हो जाने से चोर धन को नहीं चुरा सकता (वैसे एक-एक इन्द्रिय के सुधरने पर अन्य-अन्य भी सुधरने लगती हैं और मन बुराई नहीं करा सकता) ॥ २॥

सीलवंत सबसो बड़ा, सब रतनों की खान।
तीन लोक की संपदा, रही सील में आन॥ ३॥

शीलवान पुरुष सबसे श्रेष्ठ है, वह सर्व गुणरूपी रत्नों की खानि हो जाता है। एक शील में त्रयलोक की सम्पत्ति समायी हुई है॥ ३॥

सीलवंत निरमल दशा, पाँव पड़ै चहुँ खूंट।
कहँ कबीर ता दास की, आस करे बैकुण्ठ॥ ४॥

शीलवान पुरुष की स्थिति निर्मल होती है, उनकी चारों ओर पांव-पूजा होती है। कबीर साहेब कहते हैं, ऐसे गुरु-भक्त को अपने आप उत्तम सुख मिलते हैं॥ ४॥

ज्ञानी ध्यानी संयमी, दाता सूर अनेक।
जपिया तपिया बहुत हैं, सीलवंत कोइ एक॥ ५॥

ज्ञानी, ध्यानी, संयमी, दाता, वीर, जापक एवं तपस्वी अनेक हैं, परन्तु शीलवान पुरुष विरले-विरले मिलते हैं॥ ५॥

मन-वाणी-कर्मों से जो कठोरता का सर्वथा त्याग करता है और निरन्तर सावधान रहता है कि हमसे किसी को कष्ट न मिले और सभी आचरणों से सम्पन्न रहता है, वही शीलवान है।

घायल ऊपर घाव लै, टोटै त्यागी सोय।
भर जीवन में शीलवंत, विरला होय तो होय॥ ६॥

चोट के ऊपर चोट सहते जाना, घाटा में दान देना एवं जीवन पर्यन्त शीलवान बने रहना—ऐसा किसी विरले पुरुष में होता है॥ ६॥

सुख का सागर सील है, कोइ न पावै . थाह।
शब्द बिना साधू नहीं, द्रव्य बिना नहिं साह॥ ७॥

शील सुख का समुद्र है, इसकी कोई थाह नहीं पाता। जो सार-असार शब्दों का पारखी न हो, वह साधु नहीं, जिसके धन न हो वह साहु नहीं होता॥ ७॥

विषय पियारे प्रीति सों, सतगुरु अन्तर नाहिं।
जब अन्तर सतगुरु बसे, विषया सो रुचि नाहिं॥ ८॥

जब विषयों में प्रेम होता है, तब सद्गुरु-ज्ञान का प्रेम हृदय में नहीं रहता। जब सद्गुरु-ज्ञान हृदय में बस गया, तब विषय-वासनाओं से प्रेम नहीं रह सकता॥ ८॥

आव कहै सो औलिया, बैठ कहै सो पीर।
जा घर आव न बैठु है, सो काफिर, बेपीर॥ ९॥

जो आदर से बुलाता है, वह औलिया है और सम्मानपूर्वक बैठाता है, वह शीलवान है। जिसके घर में ये दोनों नहीं हैं, वह शीलहीन काफिर है॥ ९॥
॥ ११४८॥

५८

सन्तोष को अंग

(सन्तोष-बिना सुख नहीं, अतः सन्तोष धारण करो।)

सन्तोषहि सहिदान है, शब्दहि भेद विचार।
सतगुरु के परताप ते, सहज सील मत सार॥ १॥

शब्दों का भेद जानने एवं विचार करने की पहिचान सन्तोष ही है। हे जीव! सद्गुरु की कृपा से सहज शील मत को धारण कर ॥ १॥

गो धन गज धन बाजि धन, और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान॥ २॥

गो भी धन है, हाथी भी धन है, घोड़ा भी धन है, रत्न भी धन है और भी धन की खानियां हैं, परन्तु जब सर्वोपरि सन्तोष धन आता है, तो सब धन धूल के समान हो जाते हैं॥ २॥

साधु सन्तोषी सर्वदा, जिनके निर्मल बैन।
जिनके दर्शन परसते, जिय उपजै सुख चैन॥ ३॥

सन्त सदैव सन्तोषी होते हैं और उनके वचन निर्दोष होते हैं। उनके दर्शन एवं चरण-स्पर्श से हृदय में सुख-शांति उत्पन्न होती है॥ ३॥

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बे परवाह।
जिनको कछू न चाहिए, सो साहनपति साह॥ ४॥

जिनकी चाहनाएं समाप्त हो गयीं, और चिन्ताएं मिट गयीं तथा मन निश्चिन्त हो गया, ऐसे पुरुष, जिनको कुछ नहीं चाहिए, शाहों के शाहन्पति हैं॥ ४॥

निज आसन सन्तोष में, सहज रहनि की ठौर।
गुरु भजने आशा भई, ताते कछु न और॥ ५॥

जिनका सन्तोष में आसन है, अर्थात जो सन्तोष वृत्ति में दृढ़ स्थित हैं, जो

सहज रूप से उत्तम रहनी की भूमिका में ठहरे हैं, गुरु-ज्ञान के स्मरण में ही जिनकी आशा-वासा रहती है, अन्य कुछ नहीं चाहते—वे पुरुष धन्य हैं ॥ ५ ॥

चिन्ता ऐसी डाकिनी, काटि करेजा खाय।
बैद बिचारा क्या करै, कहँ तक दवा लगाय॥ ६ ॥

चिन्ता ऐसी राक्षसी है कि कलेजा काटकर खा जाती है। गुरु-वैद्य बेचारे क्या करें, कहां तक उपदेश रूपी दवा लगावें! ॥ ६ ॥ ११५० ॥

भाव—जब तक मनुष्य सन्तोष वृत्ति में स्थित नहीं होता, तब तक केवल उपदेशक क्या करेगा!

५९

साँच को अंग

(सत्य पर ही सब निर्भर है, अतः सत्य का पालन प्राणपण से करो।)

साँचै कोइ न पतीजई, झूठै जग पतियाय।
पाँच टका की धोपटी, सात टकै बिक जाय॥ १॥

सत्य में कोई विश्वास नहीं करता, झूठे ही में लोग विश्वास करते हैं। झूठ बोलने वाले बनिये की पांच टके की धोती सात टके में बिक जाती है॥ १॥

साँचै कोइ न पतीजई, झूठै जग पतियाय।
गली गली गोरस फिरै, मदिरा बैठि बिकाय॥ २॥

सत्य में विश्वास न कर लोग असत्य में विश्वास करते हैं। देखो! दूध-दही तो बिकने के लिए गली-गली में फिरते हैं, और मदिरा बैठे-बैठे दुकान पर ही बिक जाती है॥ २॥

साँच कहै तो मारिहैं, यह तुरकानी जोर।
बात कहूँ मैं सत्य की, कर गहि पकड़ै चोर॥ ३॥

सत्य कहने से लोग मारते हैं, यह 'तुरकानी जोर' कहावत है। मैं सत्य की बात कहता हूं, तो चोर कहकर लोग हाथ पकड़ते हैं॥ ३॥

भाव— तुरकों की जबरदस्ती करने का स्वभाव था। इसीलिए 'तुरकानी-जोर' की कहावत हो गयी।

साँच कहूँ तो मारि हैं, झूठै जग पतियाय।
यह जग काली कूतरी, जो छेड़ै तेहि खाय॥ ४॥

सत्य कहने से लोग मारने दौड़ते हैं, और झूठे में विश्वास करते हैं। यह जगत तो कटही कुतिया है, जो इसे छेड़ेंगे, उनको काट खायेगी॥ ४॥

साँचे को साँचा मिलै, अधिका बढ़ै सनेह।
झूठे को साँचा मिलै, तड़ दे टूटै नेह॥ ५॥

सत्यनिष्ठ को जब सत्यनिष्ठ मिल जाते हैं, तब अधिक स्नेह बढ़ जाता है, परन्तु सत्यनिष्ठ को जब झूठा मनुष्य मिल जाता है, तब उसका प्रेम शीघ्र टूट जाता है॥ ५॥

जिन नर साँच पिछानिया, करता केवल सार।
सो प्रानी काहे चलै, झूठै कुल की लार॥ ६॥

जिस पुरुष ने सत्य को पहचान लिया और केवल सत्य-सार का ही विचार करने लगा, वह पुरुष रत्न झूठे कुल-जाति के पक्ष में सटकर क्यों चलेगा! ॥ ६॥

कबीर लज्जा लोक की, बोले नाहीं साँच।
जानि बूझि कंचन तजै, क्यों तू पकड़े काँच॥ ७॥

लोक की लज्जा में पड़कर लोग सत्य बोलना भी त्याग देते हैं। जान-बूझकर तू क्यों सोना को त्यागता एवं कांच को ग्रहण करता है! ॥ ७॥

तेरे अन्दर साँच जो, बाहर नाहिं जनाव।
जाननहारा जानिहैं, अन्तर गति का भाव॥ ८॥

यदि तेरे हृदय में सत्य की स्थिति है तो उसका बाहर विज्ञापन मत कर। तुम्हारे हृदय-स्थिति का रहस्य जानने वाले विवेकी स्वयं जान लेंगे॥ ८॥

भाव—अपनी श्रेष्ठता के प्रकाश होने में ही बल्कि हानि है, छिपे रहने से तो लाभ ही है।

झूठ बात नहि बोलिये, जब लग पार बसाय।
अहो कबीरा साँच गहु, आवागमन नशाय॥ ९॥

भरसक जान-बूझ कर झूठ बात कभी मत बोलो। हे जीव! सत्य को ग्रहण करो, तभी जन्म-मरण के कष्ट दूर होंगे॥ ९॥

कबीर झूठ न बोलिये, जब लग पार बसाय।
न जानो क्या होयगा, पल के चौथे भाय॥ १०॥

हे मनुष्यों! भरसक जान-बूझकर झूठ न बोलो। पता नहीं क्षण की चौथाई में क्या हो जायेगा!॥ १०॥

भाव—जीवन क्षणभंगुर जानकर सदैव सत्य में रत रहो।

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे साँच है, ताके हिरदे आप॥ ११॥

सत्य-भाव, सत्य-भाषण, सत्य-आचरण, सत्य-ज्ञान के समान तपस्या नहीं है, और झूठ के सदृश पाप नहीं है। जिसके हृदय में सत्य की स्थिति है, उसके हृदय में अपने आप चैतन्य स्वरूप का प्रकाश (ज्ञान एवं स्थिति) है॥ ११॥ ११६१॥

६०

दया को अंग

(दया के बिना मनुष्य पशु-तुल्य है, अतः सदैव दया का पालन करो।)

दया भाव हिरदै नहीं, ज्ञान कथै बेहद
ते नर नरकहिं जायंगे, सुनि सुनि साखी शब्द॥ १॥

जिनके हृदय में दया का भाव नहीं है, केवल निस्सीम ज्ञान-कथन की ही झड़ी लगाये रहते हैं, वे मनुष्य साखी-शब्द सुनकर भी नरक में जायेंगे॥ १॥

भावै जाओ बादरी, भावै जाहु गया।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सबते बड़ी दया॥ २॥

चाहे बद्रीनाथ जाओ, चाहे गया जाओ, कबीर साहेब कहते हैं कि हे सन्तो! सबसे बड़ी जीव-दया है॥ २॥

आचारी सब जग मिला, बीचारी नहिं कोय।
जाके हिरदै गुरु नहीं, जिया अकारथ सोय॥ ३॥

जगत में आचारवान बहुत मिलते हैं, परन्तु विचारवान कम मिलते हैं। जिनके हृदय में गुरु-विचार नहीं है, उनका जीवन व्यर्थ है॥ ३॥

जहाँ दया वहाँ धर्म है, जहाँ लोभ तहँ पाप।
जहाँ क्रोध वहँ काल है, जहाँ क्षमा वहँ आप॥ ४॥

जहां दया है, वहां धर्म है, जहां लोभ है, वहां पाप है, जहां क्रोध है, वहां काल है और जहां क्षमा है, वहां पर अपने आप तृप्त हैं॥ ४॥

कुंजर मुख से कन गिरा, खुटै न वाको अहार।
कीड़ी कन लेकर चली, पोषन दे परिवार॥ ५॥

हाथी के मुख से अन्न का एक कण गिर पड़ा, इससे उसके आहार में कमी नहीं हो गयी। और उस कण को चींटी लेकर चली एवं अपने परिवार भर को तृप्त किया॥ ५॥

दाता दाता चलि गये, रहि गये मक्खीचूस।
दान मान समुझे नहीं, लड़ने को मजबूत॥ ६॥

बड़े-बड़े दानी पुरुष तो चले गये, मक्खीचूस लोग ही बचे रह गये। ये लोग दान करना एवं अन्य का सम्मान करना तो समझते नहीं, केवल लड़ाई-झगड़ा करने के लिए कट्टर हैं॥ ६॥

दया का लच्छन भक्ति है, भक्ति से होवै ध्यान।
ध्यान से मिलता ज्ञान है, यह सिद्धान्त उरान॥ ७॥

दया का लक्षण विनम्रतापूर्वक भक्ति करना है, फिर भक्ति से सत्य में ध्यान जमाना है और ध्यान से ज्ञान मिलता है, अतएव दया धारण करने का सिद्धांत हृदय में लाओ। अथवा अन्तिम सिद्धांत स्वरूपज्ञान को हृदय में लाओ॥ ७॥

दया दया सब कोइ कहै, मर्म न जानै कोय।
जात जीव जानै नहीं, दया कहाँ से होय॥ ८॥

दया-दया सब कोई कहते हैं, दया करने का रहस्य ये लोग नहीं जानते। कीड़े से कुंजर तक सम्पूर्ण जीवों को अपना ज्ञाति-बन्धु समझते नहीं, फिर कहां से दया का वास्तविक रूप इनमें आवे!॥ ८॥

कबीर सोई पीर है, जो जाने पर पीर।
जो पर पीर न जानई, सो काफिर बेपीर॥ ९॥

पीर वही है, जो पराये की पीड़ा अपने समान जानता है। जो पराये की पीड़ा अपने समान नहीं जानता, वह बेपीर काफिर है॥ ९॥

दया धर्म का मूल है, पाप मूल संताप।
जहाँ क्षमा तहँ धर्म है, जहाँ दया तहँ आप॥ १०॥

दया धर्म की जड़ है, पाप का मूल दूसरे को सन्ताप देना है। जहां क्षमा है, वहां धर्म है, जहां दया है, वहां अपने आप का कल्याण है॥ १०॥ ११७१॥

६१

दीनता को अंग

(दीनता ही महानता का लक्षण है, अतः दीन बनो।)

दीन गरीबी बन्दगी, साधुन सों आधीन।
ताके संग में यों रहूँ, ज्यों पानी संग मीन॥ १॥

जिनमें दीनता, गरीबी-भाव, सेवा-भाव और सन्तों की शरणागति का भाव है, उनके साथ मैं ऐसा प्रेम करता हूं, जैसा जल के साथ मछली करती है॥ १॥

दीन गरीबी बन्दगी, सबसो आदर भाव।
कहैं कबीर सोई बड़ा, जामें बड़ा स्वभाव॥ २॥

कबीर साहेब कहते हैं कि बड़ा वही है, जिसमें बड़ा स्वभाव है। बड़ा स्वभाव के लक्षण ये हैं—दीनता, अभिमान-हीनता, सेवा और सबका आदर-प्रेम करना॥ २॥

दीन गरीबी दीन कूं, दुंदुर को अभिमान।
दुंदुर तो विष से भरा, दीन गरीबी जान॥ ३॥

विनम्र पुरुष को दीनता, निरभिमानता एवं सादापन ही जंचता है, और उपद्रवी को अभिमान करना रुचता है। अभिमानी तो अभिमान-विष से पूर्ण रहता है, और विनम्र पुरुष अभिमान-हीनता को उत्तम समझता है॥ ३॥

दीन लखै मुख सबन को, दीनहिं लखै न कोय।
भली बिचारी दीनता, नरहि देवता होय॥ ४॥

दीन (गरीब) सबके मुख देखता है, परन्तु दीन को कोई नहीं देखता। दीनता बेचारी उत्तम है, क्योंकि दीन व्यक्ति सबको देखकर एवं भले-बुरे को पहचानकर मनुष्यों में देवता बन जाता है॥ ४॥

इकबानी सो दीनता, सब कछु गुरु दरबार।
यही भेट गुरुदेव की, संतन कियो विचार॥ ५॥

एक दीनता लक्षण धारण कर लेने पर गुरु-दरबार में उसके लिए सब परिपूर्ण है। सन्तों ने विचार किया कि 'दीनता' ही गुरुदेव के लिए उत्तम भेंट है ॥ ५ ॥

नहीं दीन नहिं दीनता, संत नहीं मिहमान।
ता घर जम डेरा किया, जीवत भया मसान ॥ ६ ॥

जो स्वयं दीन नहीं, जिसमें दीनता-विनम्रता नहीं और सन्त-पाहुन का आदर नहीं, उसके घर में तो पाप रूपी यम ने ही अपना डेरा जमा रखा है और सबके जीते जी उसका घर श्मशान तुल्य है ॥ ६ ॥

कबीर नवै सो आपको, परको नवै न कोय।
घालि तराजू तौलिये, नवै सो भारी होय ॥ ७ ॥

हे सज्जनो! जो झुककर विनम्रता धारण करता है, वह अपने ही लिए उत्तम है, वास्तव में कोई दूसरे के लिए नहीं झुकता। तराजू में वस्तु रखकर तौलो, जिस ओर झुक जायेगा, भारी कहलायेगा ॥ ७ ॥

नीचे नीचे सब तिरै, संत चरण लौ लीन।
जाति के अभिमान ते, बूड़े सकल कुलीन ॥ ८ ॥

छोटे-छोटे लोग सन्तों के चरणों में लिपटकर उद्धार पा गये, परन्तु जाति के अभिमान में पड़कर बहुत उच्च कुल वाले अज्ञान-अन्धकार में डूब गये ॥ ८ ॥

नीचै नीचै सब तिरै, जिहि तिहि बहुत अधीन।
चढ़ि बोहित अभिमान की, बूड़े ऊँच कुलीन ॥ ९ ॥

नीच-नीच, बहुत दीन लोग जैसे-तैसे उद्धार पा गये, परन्तु अभिमान के जहाज पर बैठकर बहुत ऊंचे कुल वाले डूब गये ॥ ९ ॥

बुरा जो खोजन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा अपना, मुझसा बुरा न कोय ॥ १० ॥

मैं बुरा खोजने चला, परन्तु कोई बुरा न मिला। जब अपने हृदय का निरीक्षण किया, तो मेरे सदृश कोई भी बुरा न होगा—ऐसा प्रतीत हुआ ॥ १० ॥

कबीर हम सबते बुरे, हमसे भल सब कोय।
जिन ऐसा करि बूझिया, मीत हमारा सोय ॥ ११ ॥

हम सबसे बुरे हैं और हमसे सब लोग अच्छे हैं, जो ऐसा करके समझा, वही हमारा मित्र है ॥ ११ ॥

दरसन को तो साधु हैं, सुमरिन को गुरु नाम।
तरबे को आधीनता, डूबन को अभिमान॥ १२॥

सन्त दर्शन करने योग्य हैं, गुरु का नाम स्मरण करने योग्य है। उद्धार पाने के लिए दीनता-विनम्रता है और डूब मरने के लिए अभिमान है॥ १२॥

नमन क्षमन अरु दीनता, सबकूं आदर भाव।
कहैं कबीर सोई बड़े, जामें बड़ा स्वभाव॥ १३॥

कबीर साहेब कहते हैं, बड़ा वही है, जिसमें स्वभाव बड़ा है। बड़ा स्वभाव के लक्षण—विनम्रता, क्षमा, दीनता और सबका आदर-प्रेम करना है॥ १३॥
॥ ११८४॥

लेखक की अन्य कृतियां

बीजक टीका (अजिल्द)	80.00	कल्याणपथ	35.00
बीजक व्याख्या : प्रथम खण्ड	250.00	ब्रह्मचर्य जीवन	45.00
बीजक व्याख्या : द्वितीय खण्ड	240.00	बूंद बूंद अमृत	20.00
बीजक प्रवचन	45.00	सब सुख तेरे पास	20.00
कबीर बीजक शिक्षा	90.00	बसै आनंद अटारी	28.00
संत कबीर और उनके उपदेश	135.00	छाड़हु मन विस्तारा	25.00
कहत कबीर	125.00	घूंघट के पट खोल	28.00
कबीर दर्शन	215.00	हंसा सुधि करु अपनो देश	20.00
कबीर : जीवन और दर्शन	40.00	उड़ि चलो हंसा अमरलोक को	18.00
कबीर का सच्चा रास्ता	28.00	समुद्र समाना बुंद में	20.00
कबीर की उलटवांसियां	30.00	मेरी और ह्वेन सां की डायरी	28.00
कबीर अमृतवाणी सटीक	50.00	बंदे करि ले आप निबेरा	25.00
कबीर : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	35.00	शाश्वत जीवन	45.00
कबीर पर शुक्ल और मेरी दृष्टि	20.00	सहज समाधि	15.00
कबीर कौन?	5.00	ज्ञान चौंतीसा	15.00
कबीर सन्देश	5.00	सपने सोया मानवा	10.00
कबीर का प्रेम	4.00	ढाई आखर	37.00
कबीर साहेब	8.00	धर्म को डुबाने वाला कौन?	32.00
कबीर का पारख सिद्धांत	30.00	समझे की गति एक है	35.00
कबीर परिचय सटीक	40.00	धर्म और मजहब	25.00
पंचग्रंथी सटीक	215.00	जीवन का सच्चा आनंद	28.00
विवेक प्रकाश सटीक	125.00	प्रश्नोत्तरी	100.00
बोधसार सटीक	40.00	पत्रावली	65.00
रहनि प्रबोधिनी सटीक	60.00	संसार के महापुरुष	140.00
गुरुपारख बोध सटीक	20.00	फुले और पेरियार	10.00
मुक्तिद्वार सटीक	75.00	व्यवहार की कला	30.00
रामायण रहस्य	200.00	स्त्री बाल शिक्षा	33.00
वेद क्या कहते हैं?	175.00	आप किधर जा रहे हैं?	15.00
युद्ध क्या कहते हैं ? (भाष्य)	80.00	स्वर्ग और मोक्ष	20.00
मानसमणि	30.00	ऐसी करनी कर चलो	27.00
तुलसी पंचामृत	27.00	ये भ्रम भूत सकल जग खाया	40.00
उपनिषद् सौरभ	60.00	सरल शिक्षा	40.00
योगदर्शन	60.00	जगन्मीमांसा	30.00
		बुद्धि विनोद	25.00

गीतासार	115.00
वैदिक राष्ट्रीयता	6.00
श्री कृष्ण और गीता	6.00
मोक्ष शास्त्र	90.00
आदेश प्रभा	3.00
राम से कबीर	12.00
अनंत की ओर	13.00
कबीरपंथी जीवनचर्या	15.00
अहिंसा शुद्धाहार	12.00
हितोपदेश समाधान	12.00
मैं कौन हूं?	6.00
ब्राह्मण कौन?	7.00
नास्तिक कौन?	2.00
श्री कृष्ण कौन?	5.00
संत कौन?	4.00
हिन्दू कौन?	3.00
जीवन क्या है?	7.00
ध्यान क्या है?	5.00
योग क्या है?	5.00
पारख समाधि क्या है?	3.00
ईश्वर क्या है?	8.00
अद्वैत क्या है?	5.00
जागत नींद न कीजै	2.50
सत्यनिष्ठा (सटीक)	40.00
कबीर अमृत वाणी (बड़ी)	80.00
बुद्ध क्या कहते हैं? (सटीक)	15.00
गृहस्थ धर्म	70.00
कबीर खड़ा बजार में	70.00
सत्य की खोज	70.00
स्वभाव का सुधार	65.00
भूला लोग कहैं घर मेरा	30.00
ऊंची घाटी राम की	35.00
शंकराचार्य क्या कहते हैं?	90.00
न्यायनामा (सटीक)	17.00
भवयान (सटीक)	140.00
निर्मल सत्यज्ञान प्रभाकर	150.00
लाओत्ज़े क्या कहते हैं?	130.00
राम नाम भजु लागू तीर	18.00
आत्मसंयम ही राम भजन है	25.00
वैराग्य त्रिवेणी	55.00
अष्टावक्र गीता	50.00

हृदय के गीत	25.00
वैराग्य संजीवनी	25.00
भजनावली	23.00
सुख सागर भीतर है	55.00
मन की पीड़ा से मुक्ति	90.00
अमृत कहाँ है?	65.00
तेरा साहेब है घट भीतर	80.00
महाभारत मीमांसा	275.00
धनी धर्म साहेब के अमृत उपदेश	30.00
पलटू साहेब की बानी	175.00

मराठी अनुवाद

बीजक टीका	110.00

ENGLISH TRANSLATION

Kabir Bijak (Commentary)	90.00
Eternal Life	50.00
Art of Human Behaviour	40.00
Who am I?	6.00
What is Life?	6.00
Kabir Amritvani	125.00
The Bijak of Kabir (In Verses)	110.00
Kabir Bijak (Elucidation Sakhi Chapter)	250.00
Saint Kabir and his Teachings	200.00
Life and Philosophy of Kabir	50.00

गुजराती अनुवाद

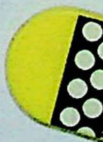
बीजक मूल	30.00
बीजक व्याख्या : भाग-1	250.00
बीजक व्याख्या : भाग-2	250.00
कबीर अमृतवाणी	65.00
अढ़ी अक्षर प्रेम ना	60.00
व्यवहार नी कला	40.00
गुरु पारख बोध	20.00
स्त्री बाल शिक्षा	35.00
शाश्वत जीवन	45.00
ध्यान शुं छे?	7.00
हूं कोण छूं?	7.00
धर्म ने डुबारनार कोण?	45.00
कबीर सन्देश	7.00
श्री कृष्ण अने गीता	7.00
कबीर नी सांची प्रेम	6.00
संत कबीर अने ऐमना उपदेश	150.00
कबीर : जीवन अने दर्शन	30.00

कबीर पारख संस्थान के अन्य प्रकाशन

सद्गुरु श्री कबीर साहेब कृत	
बीजक मूल (छोटा)	20.00
बीजक मूल (बड़ा)	30.00
कबीर भजनावली (भाग-1)	27.00
कबीर भजनावली (भाग-2)	28.00
कबीर साखी	16.00
श्री निर्मल साहेब कृत	
न्यायनामा	3.00
सद्गुरु श्री रामसूरत साहेब कृत	
विवेक प्रकाश मूल	12.00
बोधसार मूल	5.00
रहनि प्रबोधिनी मूल	4.00
श्री निर्बंध साहेब कृत	
भजन प्रवेशिका	12.00
सद्गुरु श्री विशाल साहेब कृत	
विशाल वचनामृत	80.00
संत श्री धर्मेन्द्र साहेब कृत	
कबीर के ज्वलंत रूप	35.00
सार सार को गहि रहे	25.00
सद्गुरु कबीर और पारख सिद्धांत	3.00
पूजिय विप्र शील गुण हीना	3.00
सबकी मांगे खैर	40.00
सुखी जीवन की कला	60.00
बूंद बूंद से घट भरे	55.00
सांचा शब्द कबीर का	80.00
सुखी जीवन का रहस्य	60.00
कबीर बीजक के रत्न	125.00
गुजराती अनुवाद	
सुखी जीवन नी कला	70.00
सद्गुरु कबीर अने पारख सिद्धांत	5.00
संत श्री अशोक साहेब कृत	
पानी में मीन पियासी	25.00
धनी कौन?	20.00
बोध कथाएं	45.00
ज्यों की त्यों धरि दीन्ही चदरिया	35.00
श्री भावसिंह हिरवानी कृत	
कबीर (नाटक)	45.00
प्रेरक कहानियां	45.00
काया कल्प	25.00
समर्पण	15.00
बाल कहानियां	17.00
ना घर तेरा ना घर मेरा	40.00
जीवन का सच	40.00
अन्य लेखकों की	
गुरुवंदना (संकलित)	6.00
कल्पतरु (घनश्याम प्रसाद वर्मा)	15.00
संत वचनामृत (अज्ञात)	3.00
विनय पद (श्री सजीवन साहेब)	10.00
आत्म संयम (")	17.00
जग बौराना (रणजीत सिंह)	20.00
ज्ञान गीता (विष्णुदयाल साहेब)	6.00
पुष्पांजलि (डा. नीलमणि)	5.00
जीवन गीत (श्री जीवन साहेब)	3.00
मोह भंग (शुकदेव दास)	प्रेस में
भक्ति ज्ञान प्रकाश (बलदेव साहेब)	3.00
मधुसंचय (सत्यानंद त्यागी)	15.00
आनंद सिंधु (")	30.00
परख बोध (श्री मनी लाल)	18.00
कसौटी (श्री शिवप्रसाद मिश्र)	25.00
जय जय संत कबीर (श्री गोविंद देव अ.)	3.00
संत ईसा और कबीर (श्री विनान्द जॉन)	3.00
कबीर : एक गहरा चिंतन (श्री आत्मा प्रसाद अस्थाना)	35.00
विचार माला (श्री विमलनाभ श्रीवास्तव)	20.00

कबीर पारख संस्थान, संत कबीर मार्ग, प्रीतम नगर, इलाहाबाद-11





ऐसी वानी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करै, आपौ शीतल होय।।
जो तोको कांटा बुवै, ताहि बुवै तू फूल।
तोहि फूल को फूल है, वाको है तिरशूल।।
यह तन विष की वेलरी, गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान।।
तेरा वैरी कोउ नहीं, तेरा वैरी फैल।
अपने फैल मिटाय ले, गली गली कर सैल।।
सुमिरन करहू राम का, काल गहे कर केस।
ना जानो कित मारि हैं, क्या घर क्या परदेश।।
या दुनिया में आय के, छांड़ि देय तू ऐंठ।
लेना होय सो लेइ ले, उठी जात है पैंठ।।
कबीर यह तन जात है, सकै तो ठौर लगाव।
कै सेवा करु साधुकी, कै गुरु के गुन गाव।।
कबीर गर्व न कीजिये, और न हँसिये कोय।
अजहूँ नाव समुद्र में, ना जाने का होय।।
जो तू आया जगत में, तो ऐसा करि लेय।
कर साहेब की बन्दगी, भूखे को कछु देय।।

ISBN—81-8422-014-6